दो शब्द

प्रस्तुत पुस्तक में रविबाबू के धर्म-सम्बन्धी ६ निबन्ध सङ्कलित किये गए हैं। रविबाबू द्वारा इन्हें शान्ति निकेतन आश्रम अथवा आदि ब्राह्म-समाज द्वारा आयोजित विभिन्न उत्सव-समारोहों के अवसर पर लिखा गया था।

सभी निबन्धों का अनुवाद मूल-बङ्गला से अक्षरशः किया गया है। भाषा-प्रवाह को भी ज्यों का त्यों रक्खा गया है। आशा है, पाठक इन निबन्धों से प्रेरणा प्राप्त करेंगे।

—अनुवादक

वह नित्य है, वह भूमा है; वह हमे आवृत्त किए हुए, हमारे अन्तर-बाहर को ओत-प्रोत करके स्तब्ध होकर रह गया है। उसे पाने के लिए केवल चाहने की ही जरूरत है, केवल हृदय को उन्मीलित करने की ही आवश्यकता है। आकाशपूर्ण दिवालोक को प्रयत्न करके प्राप्त कर पाना जिस प्रकार हमारे लिए असम्भव होता है, उसी तरह हमारे अनन्त-जीवन के सम्बल धर्म को विशेष आयोजन द्वारा प्राप्त करने से वह 'पाना' किसी भी समय मे नही हो सकता।

हम लोग स्वयं जिसकी रचना करते हैं, वह जटिल हो जाता है। हमारा समाज जटिल है, हमारा संसार जटिल है, हमारी जीवन यात्रा जटिल है। यह जटिलता अपने बहुधाविभक्त वैचित्र्य के द्वारा कई बार विपुलता और प्रबलता का भान कराके हमारे मूढ चित्त को अभिभूत कर देती है। जिन दार्शनिक ग्रथो की लिखावट अत्यन्त जटिल होती है। हमारी अज्ञ बुद्धि उसमे विशेष पाण्डित्य का आरोप करके विस्मय का अनुभव करती है। जिस सभ्यता की समस्त गति-पद्धति दुरूह और विमिश्रित हैं, जिसके कल-कारखाने आयोजन-उपकरण बहुत विस्तृत हैं, वह हमारे दुर्बल अन्तःकरण को विह्वल कर देती है। परन्तु जो दार्शनिक दर्शन को सरल रूप मे दिखा सकते हैं वे ही यथार्थ क्षमता-शाली, धी-शक्तिमान हैं, जो सभ्यता अपनी समस्त व्यवस्था को सरलता के द्वारा सुशृङ्खल और सर्वत्र सुगम करके ला सकती है, वह सभ्यता ही यथार्थ मे उन्नत है। बाहर से देखने मे कैसा भी लगे, जटिलता ही दुर्बलता है, वह अकृतार्थता है, पूर्णता ही सरलता है। धर्म उसी परिपूर्णता का, सुतरा सरलता का, एक मात्र चरमतम आदर्श है।

किन्तु हमारा ऐसा दुर्भाग्य है, उस धर्म को ही मनुष्य ने ससार की सब वस्तुओ की अपेक्षा जटिलता द्वारा आकीर्ण बना दिया है। वह अशेष तन्त्र-मन्त्र, कृत्रिम क्रिया-कर्म जटिल मतवाद, विचित्र कल्पनाओ से ऐसा गहन दुर्गम हो उठा है कि मनुष्य की उस स्वकृत अन्धकारमय

जटिलता के भीतर हर समय कोई-न-कोई अध्यवसायी कोई-न-कोई नया मार्ग बनाकर नये-नये सम्प्रदाय की सृष्टि करते रहे हैं। उन भिन्न भिन्न सम्प्रदाय एव मतवाद के संघर्ष से जगत् मे विरोध-विद्वेष, अशान्ति-अमङ्गल की कोई सीमा ही नही रही है।

ऐसा क्यो हुआ ? इसका एकमात्र कारण, सर्वान्त.करण से हमलोगो ने स्वय को धर्म का अनुगत किए बिना, धर्म को अपने अनुरूप बनाने की चेष्टा की है, इसी लिए। धर्म को हमलोगो ने ससार के अन्यान्य आवश्यक द्रव्यो की भाति अपने लिए विशेष व्यवहार योग्य बना लेने के लिए अपने-अपने परिमाप मे उसे विशेषभाव से खर्व कर लिया है, इसीलिए।

धर्म हमारे लिए सर्वश्रेष्ठ आवश्यक है, इसमे सन्देह नही परन्तु इसीकारण उसे स्वय के लिए उपयोगी बनाने का प्रयत्न करते ही उस की वह सर्वश्रेष्ठ आवश्यकता ही नष्ट हो जाती है। वह देश-काल-पात्र के क्षुद्र प्रभेदो से अतीत है, वह निरञ्जन, विकारहीन होने के कारण ही हमारे चिर दिनो के लिए, हमारी सम्पूर्ण अवस्थाओं के लिए इतना एकान्त आवश्यक है। वह हमसे अतीत होने के कारण ही हमलोगो को सदैव ही सम्पूर्ण परिवर्तनो के बीच ध्रुव अवलम्बन का दान करता है।

परन्तु धर्म की धारणा करनी पडी तो ? धारणा करने पर उसे अपनी प्रकृति का अनुयायी बना लेना पडेगा। अथच, मानव-प्रकृति विचित्र है, सुतरा उस वैचित्र्य के अनुसार जो एक है, वह अनेक हो उठता है। जहाँ अनेक है, वहाँ जटिलता अनिवार्य है, जहाँ जटिलता है, वहा विरोध स्वय ही आ पडता है।

परन्तु धर्म की धारणा नही करनी पडेगी। धर्मराज ईश्वर धारणा से परे है। जिसकी धारणा की जाती है, वह 'वे' नही हैं; वह और कुछ है, वह धर्म नही है, वह ससार है। सुतरा, उससे ससार के सभी लक्षण

निराकृत कर दिया है। धर्म की विशुद्ध सरलता का ऐसा विराट् आदर्श और कहाँ है?

उपनिषद का यह ब्रह्म हमसे अगम्य है, यह बात बिना विचारे कह कर ऋषियों की अमर वाणियों को हम जैसे अपने व्यवहार से बाहर निर्वासित करके नहीं रखते। आकाश लोष्ट्रखण्ड की भाँति हमारे ग्रहण योग्य नहीं है, कह कर हम आकाश को दुर्गम नहीं कह सकते। वस्तुत: उसी कारण से वह सुगम है। जो धारणा योग्य है, जो स्पर्शगम्य है, वही हमारी ओर बाधा देता है। हमारी स्वहस्तरचित प्राचीर क्षुद्र प्राचीर दुर्गम है, परन्तु अनन्त आकाश दुर्गम नहीं है। प्राचीर (दीवार) को लाँघना पड़ता है, परन्तु आकाश को लाघने का कोई अर्थ ही नहीं है। प्रभात का अरुणालोक स्वर्णमुष्टि की भाँति सचय योग्य नहीं है इसी कारण क्या अरुणालोक को दुर्लभ कहना पड़ेगा? वस्तुत: एक मुट्ठी स्वर्ण ही क्या दुर्लभ नहीं है? और, आकाशपूर्ण प्रभात-किरण क्या किसी को भी खरीद कर लानी पड़ती है? प्रभात के आलोक को मूल्य देकर खरीदने की कल्पना ही मन में नहीं आ सकती, वह मूल्यवान नहीं है वह अमूल्य है।

उपनिषद के ब्रह्म का वही रूप है। वे अन्तर-बाहर में सर्वत्र हैं; वे अन्तरतम हैं, वे सुदूरतम हैं। उनके सत्य से हम सत्य हैं, उनके आनन्द से हम व्यक्त हैं।

'को ह्येवान्यात् क: प्राण्यात।
यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्।'

'कौन शारीरिक चेष्टा करता, और कौन जीवित रह पाता, यदि आकाश में यह आनन्द न रहता तो।'

महाकाश को पूर्ण करके निरन्तर वहा आनन्द विराज रहा है, इसीलिए हम प्रतिक्षण नि:श्वास ले रहे हैं, हम प्रति मुहूर्त प्राण धारण कर रहे हैं,

'एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति।'

'इस आनन्द के कणमात्र आनन्द का उपभोग अन्यान्य सभी जीव कर रहे हैं।'

आनन्दाध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते,
आनन्देन जातानि जीवन्ति,
आनन्दं प्रयन्त्यभि स विशन्ति।'

'उस सर्वव्यापी आनन्द से ही ये सब प्राणी जन्म लेते हैं, उस सर्वव्यापी आनन्द के द्वारा ही ये सब प्राणी जीवित हैं, उस सर्वव्यापी आनन्द के भीतर ही ये सब गमन करते हैं, प्रवेश करते हैं।'

ईश्वर के सम्बन्ध मे जितनी बातें हैं, वे बातें हैं सबकी अपेक्षा सरल हैं, सबकी अपेक्षा सहज हैं। ब्रह्मा के इस भाव को ग्रहण करने के लिए कुछ भी कल्पना नही करनी पडती, कुछ भी रचना नही करनी पडती, दूर नही जाना पडता, दिन-क्षण की प्रतीक्षा नही करनी पडती—हृदय के भीतर आग्रह उपस्थित होते ही, उन्हे उपलब्ध करने की यथार्थ इच्छा के पैदा होते ही, निःश्वास के भीतर उनका आनन्द प्रवाहित हो उठता है, प्राणो मे उनका आनन्द कम्पित हो उठता है, बुद्धि से उनका आनन्द विकीर्ण होता है, भोग मे उनके आनन्द को प्रतिबिम्बित देखा जाता है। दिन का आलोक जिस तरह केवल मात्र आँखें खोलने की अपेक्षा रखता है, ब्रह्म का आनन्द उसी तरह मात्र हृदय-उन्मीलन की अपेक्षा रखता है।

मैं एक बार एक नौका मे अकेला रह रहा था। एक दिन सायकाल एक मोमबत्ती जलाकर पढते-पढते बहुत रात बीत गई। थक कर जैसे ही बत्ती बुझाई, वैसे ही एक क्षण में पूर्णिमा का चन्द्रालोक ने चारो ओर के मुक्त-वातायन से आकर मेरे कक्ष को परिपूर्ण कर दिया। मेरी अपने हाथ से जलाई गई एक मात्र क्षुद्र बत्ती ने इस आकाशपरिप्लावी अजस्र-आलोक को मेरे निकट से आगोचर कर रखा था। इस अपरिमेय ज्योति सम्पत्ति को प्राप्त करने के लिए मुझे और कुछ भी नही करना पडा, केवल उस बत्ती को एक फूँक से बुझा देना पडा। उसके बाद क्या पाया! बत्ती की भाँति कोई हिलने वाली वस्तु नही पाई

सन्दूक में भरने योग्य वस्तु नहीं पाई—पाया आलोक, आनन्द, सौन्दर्य शान्ति को। जिसे हटाया था उसकी अपेक्षा बहुत अधिक प्राप्त कर लिया था—यद्यपि दोनों को प्राप्त करने की पद्धति पूर्णत स्वतन्त्र थी।

ब्रह्म को पाने के लिए सोना (स्वर्ण) पाने जैसी चेष्टा न करके आलोक को प्राप्त करने जैसी चेष्टा करनी पडती है। सोना प्राप्त करने जैसी चेष्टा करने पर अनेक विरोध-विद्वेष, बाधा विपत्ति का प्रादुर्भाव होता है, और आलोक को प्राप्त करने जैसी चेष्टा करने पर सब कुछ सहज सरल हो जाता है। हम जानें या न जानें, ब्रह्म के साथ हमारा जो नित्य सम्बन्ध है, उस सम्बन्ध के बीच अपने चित्त को उद्बोधित किए रहना ही ब्रह्म-प्राप्ति की साधना है।

भारतवर्ष मे इस उद्बोधन का जो मन्त्र है, वह भी अत्यन्त सरल है वह नि श्वास मे ही उच्चारित होता है वह गायत्री मन्त्र है। ॐ भूर्भुव स्व —गायत्री के इस अश का नाम व्याहृति है। व्याहृति शब्द का अर्थ है—चारों ओर से आहरण करके लाना। सबसे पहले भूलोक-भुवर्लोक-स्वर्लोक अर्थात् समस्त विश्व-जगत् को मन के भीतर आहरण करके लाना पडता है, मनमे समझना पडता है, मैं विश्वभवन का अधिवासी हूँ—मैं किसी विशेष प्रदेश का निवासी नहीं हूँ मैंने जिस राज-अट्टालिका के भीतर निवास स्थान पाया है लोक-लोकान्तर उसके एक एक कक्ष हैं। इस तरह से जो यथार्थ आर्य हैं, वे अन्तत: प्रत्यह एक बार चन्द्र सूर्य ग्रह तारकों के बीच स्वय को दण्डायमान करते हैं, पृथ्वी का अतिक्रमण करके निखिल जगत् के साथ अपने चिर सम्बन्ध को एक बार उपलब्ध कर लेते है— स्वास्थ्य का भी लोग जिस तरह से रुद्ध-गृह को छोड कर प्रत्यूष मे एक बार खुले मैदान मे वायु सेवन कर आते हैं उसी तरह आर्य साधु दिन मे एक बार निखिल के बीच भूर्भुव. स्व. लोक के बीच अपने चित्त को प्रेरित करते हैं। वे उस अगण्य-

ज्योतिष्क-खचित विश्व-लोक के बीच खडे होकर कौन सा मन्त्र उच्चारण करते हैं,

'तत्सवितुर्वरेण्य् भर्गो देवस्य धीमहि ।'

'इस विश्व प्रसविता देवता की वरणीय शक्ति का ध्यान करता हूँ ।'

इस विश्वलोक के भीतर उस विश्वलोकेश्वर की जो शक्ति प्रत्यक्ष है, उसी का ध्यान करता हूँ । एक बार उपलब्ध किया हुआ विपुल विश्व-जगत् एक साथ इसी क्षण एव प्रतिक्षण उन्हीं मे होकर निरन्तर विकीर्ण हो रहा है । हम जिसे देखकर समाप्त नही कर सकते, जानकर अन्त नही कर सकते, उसे समग्रभाव से निरन्तर ही वे प्रेरित कर रहे हैं। इस विश्व प्रकाशक असीम शक्ति के साथ मेरा अव्यवहित सम्पर्क किस सूत्र से है ? किस सूत्र का अवलम्बन लेकर उनका ध्यान करूँ ?

'धियो यो नः प्रचोदयात्—'

जो हमारी ओर सभी बुद्धिवृत्तियो को प्रेरित कर रहे हैं, उनके द्वारा प्रेरित उस धी-सूत्र से ही उनका ध्यान करूँगा। सूर्य के प्रकाश को हम प्रत्यक्षभाव से किसके द्वारा जानते हैं ? सूर्य स्वयं हमारी ओर जिन किरणो को प्रेरित करते हैं, उन किरणो के ही द्वारा । उसी तरह विश्व-जगत् के सविता हमारे भीतर दिन-रात जिस धी-शक्ति को प्रेरित कर रहे हैं, जिस शक्ति के रहने से ही मैं स्वय को और बाहर के सम्पूर्ण प्रत्यक्ष व्यापार को उपलब्ध कर रहा हूँ, वह धी शक्ति उन्ही की शक्ति है—एव उसी धी शक्ति के द्वारा ही उन्ही को शक्ति को प्रत्यक्षभाव से अन्तर के भीतर अन्तरतम रूप मे अनुभव कर पाता हू । बाहर जिस तरह 'भूर्भुव स्व· लोक के सविता के रूप मे उन्हे जगत् चराचर के भीतर उपलब्ध करता हूँ हृदय के भीतर भी उसी तरह अपनी धी-शक्ति के अविश्राम-प्रेरक के रूप मे उन्हे अव्यवहितभाव से उपलब्ध कर लेता हू । बाहर का जगत् एव मेरे हृदय की 'धी' ये दोनो एक ही शक्ति के विकास हैं, यह जान लेने पर जगत् के साथ मेरे चित्त का एव मेरे

विश्व के साथ उस सच्चिदानन्द का घनिष्ट योग अनुभव करके सङ्कीर्णता से स्वार्थ से, भय से, विषाद से मुक्त हो जाता हूँ। इस तरह गायत्री मन्त्र से बाहर के साथ अन्तर का एवं अन्तर के साथ अन्तरतम का योगसाधन किया जाता है।

ब्रह्म का ध्यान करने की यह जो प्राचीन वैदिक पद्धति है, यह जैसी उदार है, वैसी ही सरल है। यह सब तरह की कृत्रिमता से परि-शून्य है। बाहर के विश्व जगत् एवं अन्तर की धी, इन्हे किसी को भी कहीं भी ढूँढते हुये नहीं घूमना पड़ता—इसके अतिरिक्त हमारा और कुछ भी नहीं है। इस जगत् को एवं बुद्धि को अपनी अश्रान्त शक्ति द्वारा वे ही अहरह प्रेरित कर रहे हैं, यह बात स्मरण करने पर उनके साथ हमारा सम्बन्ध जैसे गभीरभाव से, समग्रभाव से, एकान्तभाव से हृदयगम होता है, वैसा और किसी कौशल से, किसी आयोजन से, किसी कृत्रिम उपाय से किसी कल्पना-नैपुण्य से हो सकता है, यह मैं नहीं जानता। इसमें तर्क वितर्क का कोई स्थान नहीं है, मतवाद नहीं है, व्यक्ति-विशेषगत प्रकृति की कोई सङ्कीर्णता नहीं है।

हमारा यह ब्रह्म का ध्यान जैसा सरल अथच विराट् है, हमारे उपनिषदों की प्रार्थनाएँ भी ठीक उसी तरह की हैं।

विदेशी लोग एवं उनके प्रियछात्र स्वदेशी लोग कहते हैं, प्राचीन हिन्दू-शास्त्रों ने पाप के प्रति प्रचुर मनोयोग नहीं किया। यही हिन्दूधर्म की असम्पूर्णता और निकृष्टता का परिचय है। वस्तुत यही हिन्दूधर्म की श्रेष्ठता का प्रमाण है हम पाप पुण्य की,एकदम जड़ मे पहुँचे थे। अनन्त आनन्द स्वरूप के साथ चित्त का सम्मिलन, इसी के प्रति ही हमारे शास्त्रों की सम्पूर्ण चेष्टा निबद्ध थी—उन्हे यथार्थभाव मे पा लेने से एक बात मे सम्पूर्ण पाप दूर हो जाते हैं, सम्पूर्ण पुण्य प्राप्त होते हैं। माता को यदि केवल यही उपदेश दिया जाय कि तुम बच्चे के समीप अनवधान मत होना, तुम को यह करना पड़ेगा, तुमको यह नहीं करना पड़ेगा, तो उपदेश का और अन्त नहीं रहेगा—परन्तु यदि कहे कि तुम

बच्चे को प्यार करो, तो दूसरी कोई बात ही नही कहनी पड़ेगी, सब कुछ सरल हो जायगा। फलतः उस प्यार के विपरीत माता का काम सम्भव हो ही नही सकेगा। उसी तरह यदि कहें, हृदय के भीतर ब्रह्म का प्रकाश हो' तो पाप के सम्बन्ध मे और कोई बात ही नही कहनी पड़ेगी। पाप की ओर से यदि देखें तो फिर जटिलता का अन्त ही नहीं है—उसका छेदन करके, दाहन करके, निर्मूल करके, किस तरह से विनाश करना पडेगा, इसे सोचकर समाप्त नही किया जा सकता—उस ओर देखने पर धर्म को विराट् विभीषिका के रूप मे देखना पडेगा–परन्तु आनन्दमय की ओर से देखने पर उसी क्षण पाप कुहेलिका की भाँति अन्तर्हित हो जाता है। पाश्चात्य धर्मशास्त्रो मे पाप और पाप से मुक्ति निरतिशय जटिल और निदारुण है, मनुष्य की बुद्धि ने उसे उत्तरोत्तर गहन कर दिया है एव उस विचित्र पाप-तत्त्व के द्वारा ईश्वर को खण्डित करके, दुर्गम करके, धर्म को दुर्बल बना दिया है।—

'असतोमा सद्गमय, तमसो मा ज्योतिर्गमय, मृत्योर्मामृत गमय।'

'असत् से सत्य मे ले चलो, अन्धकार से प्रकाश मे ले चलो, मृत्यु से अमृत मे ले चलो।'

हममे अभाव केवल सत्य का अभाव है, आलोक का अभाव है, अमृत का अभाव है—हमारे जीवन का सम्पूर्ण दु.ख, पाप, निरानन्द केवल इसीलिए है। सत्य का, ज्योति का, अमृत का ऐश्वर्य जिन्होने कुछ पाया है, वे ही जानते हैं, इससे हमारे जीवन के समस्त अभावों का एकदम मूलोच्छेदन हो जाता है। जिन सब व्याघातों से उनके प्रकाश को अपने समीप से आच्छन्न किये रखते हैं, वे ही विचित्र रूप धारण कर हमे अनेक दु.ख एवं अकृतार्थ के बीच अवतीर्ण कर देते हैं। इसीलिए हमारा मन असत्य, अन्धकार एव विनाश के आवरण से रक्षा चाहता है। जब वह कहता है, 'मेरा दु:ख दूर करो' तब वह अन्त तक न समझ पाने पर भी यही बात कहता रहता है; जब वह कहता है 'मेरी दीनता दूर करो' तब वह यथार्थ मे क्या चाहता है, उसे न जानते हुए

मे हैं, उन्हे हृदय मे ही प्राप्त करने के लिए भारतवर्ष कहता है, जो विश्व मे हैं, उन्हे विश्व के भीतर ही उपलब्ध करना भारतवर्ष की साधना है, हम जिस अमृत लोक में सहज ही निवास करते हैं, दृष्टि की बाधा को दूर करके उसे प्रत्यक्ष करने के लिए ही भारतवर्ष की प्रार्थना है, चित्त-सरोवर का जो निर्मल अचाञ्चल्य है, जिसका नाम सन्तोष है, आनन्द जिसका दर्पण है, उसकी सभी क्षोभ से रक्षा करना, यही भारतवर्ष की शिक्षा है। कुछ कल्पना करना नही, रचना करना नहीं, आहरण करना नही—जागरित होना, विकसित होना, प्रतिष्ठित होना—जो है, उसे ग्रहण करने के लिए अत्यन्त सरल होना। जो सत्य है वह सत्य है, इसीलिए हमारे निकटतम है, सत्य होने के कारण ही वह दिवा लोक की भाँति हम सभी का प्राप्य है, वह हमारा स्वरचित नही है, इसी कारण हमारे लिए सुगम है, वह हमारी सम्यक्-धारणा से अतीत होने के कारण ही हमारे चिर जीवन का आश्रय है—उसके प्रतिनिधि मात्र ही उसकी अपेक्षा सुदूर हैं—उसे हम किसी आवश्यक विशेष की उपयोगिता के रूप मे, विशेष आयत्तगम्य रूप मे सहज करने की चेष्टा करते हो, उसे कठिन बना देते हैं, अधीर होकर उसे बाह्या-डम्बर के भीतर ढूँढते फिरते हुए स्वय की सृष्टि को ही ढूँढते फिरते है, इस तरह चेष्टा की उपस्थित उत्तेजना मात्र को प्राप्त करते हैं, परन्तु चरम सार्थकता प्राप्त नही होती। आज हम भारतवर्ष के उस उपदेश को भूल गए हैं, उसके अकलङ्क, सरलतम, विराटतम, एकनिष्ठ आदर्श से भ्रष्ट होकर शतधाविभक्त खर्वता-खण्डता के दुर्गम गहन मे माया-मृगी का अनुधावन करते फिर रहे हैं।

हे भारतवर्ष के चिराराध्यतम अन्तर्यामी विधातृपुरुष, तुम हमारे भारतवर्ष को सफल करो। भारतवर्ष की सफलता का मार्ग एकान्त सरल एकनिष्ठता का मार्ग है। तुम्हारे भीतर ही उसके धर्म, कर्म, उसके चित्त ने परम ऐक्य प्राप्त करके ससार की, समाज की, जीवन की समस्त जटिलताओं की निर्मल सहज मीमासा की थी। जो स्वार्थ की, विरोध की,

सशय की अनेक शाखा-प्रशाखाओ के बीच हमे उत्तीर्ण करदे, जो विविध के आकर्षण से हमारी प्रवृत्ति को अनेक और विक्षिप्त करदे, जो उपकरण के अनेक जजालो के बीच हमारी चेष्टा को अनेक आकारो मे भ्रमित करता रहे, वह भारतवर्ष का पथ नही है। भारतवर्ष का पथ एक का पथ है, वह बाधा-विवर्जित तुम्हारा ही पथ है, अपने वृद्ध पितामहो के पदाङ्क-चिह्नित उस प्राचीन, प्रशस्त, पुरातन, सरल राजपथ को यदि न त्यागें, तो किसी तरह भी हम व्यर्थ नही होगे। ससार के बीच आज दारुण-दुर्योग का दुर्दिन उपस्थित हुआ है, चारो ओर युद्ध की भेरी बज उठी हैं, वाणिज्य-रथ दुर्बल को धूलि के साथ दलता हुआ घर्घर शब्द से चारो ओर दौड रहा है, स्वार्थ की झञ्झावायु प्रलय-गर्जन से चारो ओर लप-लपाती घूम रही है—हे विधाता, पृथ्वी के लोग आज तुम्हारे सिंहासन को सूना समझ रहे हैं, धर्म को अभ्यास-जनित सस्कारमात्र मान कर निश्चिन्त चित्त से यथेच्छाचार मे प्रवृत्त होगए हैं, हे शान्त शिव-मद्वैतम्, इस झंझावर्त मे हम लोग क्षुब्ध न हो, शुष्क-मृत पत्तो के ढेर की भाँति इसके द्वारा आकृष्ट होकर धूलिध्वजा को उठाकर दिशा-विदिशा मे भ्रमते न फिरें, हम लोग पृथ्वीव्यापी प्रलय ताण्डव मे एक मन से एकाग्रनिष्ठा से इस विपुल विश्वास को जैसे दृढ रूप से धारण किए रहें कि—

'अधर्मेणैधते तावत् ततो भद्राणि पश्यति,
ततः सपत्नान् जयति समूलस्तु विनश्यति।'

'अधर्म के द्वारा आपातत वृद्धि प्राप्त हो सकती है, आपातत कल्याण दिखाई देता है, आपातत शत्रु पराजित हो सकते हैं, परन्तु समूल नष्ट हो जाना पडता है।'

एक दिन नाना दुःख और आघातो से वृहत् श्मशान के बीच इस दुर्योग की निवृत्ति होगी—तब यदि मानव-समाज यह बात कहे कि, शक्ति की पूजा, क्षमता की मत्तता, स्वार्थ की दारुण दुश्चेष्टा जब प्रत्य-तम, मोहान्धकार जब धनीभूत एव दलबद्ध क्षुधित आत्मम्भरिता जिस

योग से समझने की चेष्टा करते हैं, निखिल के भीतर उसी को प्रत्यक्ष कर लेने पर ही हमारी उपलब्धि सम्पूर्ण होती है।

मिलन के भीतर जो सत्य है—वह केवल विज्ञान नही है, वह आनन्द है, वह रस स्वरूप है, वह प्रेम है वह आंशिक नही है, वह समग्र है; कारण वह केवल बुद्धि को नही, वह हृदय को भी पूर्ण करता है। जो अनेक स्थानो से हम सब को एक की ओर आकर्षित कर रहे हैं, जिनके सामने, जिनके दक्षिण-करतल की छाया मे हम सब आमने-सामने मुँह किए बैठे हैं, वे नीरस सत्य नहीं हैं, वे प्रेम हैं। यह प्रेम ही उत्सव के देवता हैं—मिलन ही उनका सजीव सचेतन मन्दिर है।

मिलन की जो शक्ति है, प्रेम की जो प्रबल सत्यता है, उसका परिचय हम पृथ्वी पर पग-पग पर पाते हैं। पृथ्वी पर भय का यदि कोई पूर्ण रूप से अतिक्रमण कर सकता है, विपत्ति को तुच्छ कर सकता है, क्षति को अग्राह्य कर सकता है, मृत्यु की उपेक्षा कर सकता है, तो वह प्रेम है। स्वार्थ परता की हमने जगत् के एक कठोर सत्य के रूप मे जाना है, उसी स्वार्थपरता के सुदृढ जाल को अनायास ही छिन्न-विच्छिन्न कर देता है प्रेम। जो अभागे देशवासी परस्पर सुख-दुःख मे सम्पत्ति-विपत्ति मे एक होकर नही मिल पाते, वे ससार के सर्वश्रेष्ठ सत्य से भ्रष्ट हो जाने के कारण श्रीहीन हो जाते हैं—वे त्याग नही कर पाते, सुतरा लाभ करना नही जानते—वे प्राण नहीं दे पाते, सुतरा उनका जीवन धारण करना विडम्बना होता है। वे पृथ्वी पर नियत से भयभीत होकर, अपमान से लाञ्छित होकर, दीनप्राण नत शिर होकर भ्रमण करते हैं। इसका क्या कारण है? इसका यही कारण है कि वे सत्य को प्राप्त नहीं कर पाते, प्रेम को प्राप्त नहीं करते, इसीलिए किसी प्रकार भी बल प्राप्त नहीं कर पाते। हम सत्य को जिस परिमाण मे उपलब्ध करते हैं, उनके लिए उसी परिमाण मे मूल्य दे

सकते हैं—हम भाई को जितने सत्य रूप में जानते हैं, भाई के लिए उतना ही त्याग कर सकते हैं। हमारी ओर जो जल-स्थल वेष्टित है, हमने जिन सब लोकों में जन्म ग्रहण किया है, यथेष्ट परिमाण मे यदि उनकी सत्यता अनुभव न कर सकें, तो उनके लिए आत्मोत्सर्ग नही कर पायेंगे।

इसीलिए कहता हूं, सत्य के प्रेम के रूप में हमारे अन्तःकरण मे आविर्भूत होने पर ही सत्य का सम्पूर्ण विकास होता है। उस समय बुद्धि की द्विधा से, मृत्यु-पीड़ा से, स्वार्थ के बन्धन और हानि की आशङ्का से हम मुक्ति पा लेते हैं। उस समय इस अस्थिर संसार के बीच हमारा चित्त एक ऐसी चरम स्थिति के आदर्श को ढूंढ लेता है, जिसके ऊपर वह अपना सर्वस्व समर्पण करने को प्रस्तुत हो जाता है।

प्रतिदिन की उद्भ्रान्ति मे कभी-कभी इस स्थिति का सुख, इस प्रेम का स्वाद पाने के लिए ही मनुष्य उत्सव के क्षेत्र मे सब मनुष्यो का इकट्ठे में आह्वान करता है। उस दिन उसका व्यवहार प्रतिदिन के व्यवहार से विपरीत हो जाता है। उस दिन अकेले का घर सब का घर हो जाता है, अकेले का धन सबके लिए खर्च होता है। उस दिन धनी दरिद्र को सम्मान देता है, उस दिन पण्डित मूर्ख को आसन देता है। कारण, आत्म-पर धनी-दरिद्र, पण्डित-मूर्ख इस ससार मे एक ही प्रेम से बिंधे हुए हैं, यही परम सत्य है—इस सत्य की वास्तविक उपलब्धि ही परम आनन्द है। उत्सव के दिन का अवारित-मिलन इसी उपलब्धि का अवसर है। जो व्यक्ति इस उपलब्धि से एक दम वञ्चित रहता है, वह व्यक्ति अमुक्त उत्सव-सम्पत्ति के बीच आकर भी दीन भाव से खाली हाथ लौट जाता है।

'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'—ब्रह्म सत्य-स्वरूप है, ज्ञान स्वरूप है, अनन्त स्वरूप है। परन्तु यह ज्ञानमय अनन्त सत्य किस रूप मे प्रकट होता है? 'आनन्द रूप-ममृत यद्विभाति'—वह आनन्द रूप मे, अमृत

रूप मे प्रकट होता है; जो कुछ प्रकट हो रहा है, वह उन्हीं का आनन्द रूप है, उन्ही का अमृत रूप है, अर्थात् उनका प्रेम है। विश्व-जगत् उनका अमृतमय आनन्द है, उनका प्रेम है।

सत्य की परिपूर्णता ही प्रकट होना है, सत्य की परिपूर्णता ही प्रेम है; आनन्द है। हमने तो लौकिक व्यापार ही देखा है, अपूर्ण सत्य अपरिस्फुट होता है। और यह भी देखा है कि जिस सत्य को हम जितने सम्पूर्ण रूप मे उपलब्ध करेंगे, उसी मे हम उतना ही आनन्द, उतना ही प्रेम होगा। उदासीन के निकट एक तिनके मे कोई आनन्द नहीं है, तृण उसके लिए तुच्छ है, तृण का प्रकाश उसके निकट अत्यन्त क्षीण है। परन्तु उद्भिद्वेत्ता के लिए तृण के भीतर यथेष्ट आनन्द है; कारण तृण का प्रकाश उसके समीप अत्यन्त व्यापक है, उद्भिदपर्याय के बीच तृण का सत्य क्षुद्र नही है इसे वह जानता है। जो व्यक्ति आध्यात्मिक दृष्टि द्वारा तृण को देखना जानता है, तृण के भीतर उसका आनन्द भी परिपूर्ण है—उसके लिए निखिल का प्रकाश इस तृण के प्रकाश मे ही प्रतिबिम्बित है। तृण का सत्य उसके लिए क्षुद्र सत्य, अस्फुट सत्य न होने के कारण ही वह उसका आनन्द, उसके प्रेम को उद्बोधित करता है। जिस मनुष्य का प्रकार हमारे लिए क्षुद्र है, हमारे लिए अस्फुट है, उससे हमारा प्रेम असम्पूर्ण है। जिस मनुष्य को मैं एक सत्य के रूप मे जानता हूँ कि उसके लिए प्राण दे सकता हूँ, उसमे मेरा आनन्द है, मेरा प्रेम है। अन्य के स्वार्थ की अपेक्षा अपना स्वार्थ मेरे लिए इतना अधिक सत्य है कि अन्य के स्वार्थ साधन मे मेरा प्रेम नहीं है—परन्तु बुद्धदेव के लिए जीवमात्र मे ही प्रकाश इतना सुपरिस्फुट था कि उनकी मगल कामना के लिए उन्होने राज्य त्याग दिया था।

इसीलिए कहता हूँ, आनन्द से ही सत्य का प्रकाश है एव सत्य के प्रकाश से ही आनन्द है। 'आनन्दाध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते'—

यह जो कुछ भी हुआ है, यह सभी आनन्द से ही उत्पन्न हुआ है। अतएव जब तक यह ससार हमारे समीप उसी आनन्दरूप मे, प्रेमरूप मे व्यक्त न हो, तब तक वह पूर्ण सत्य के रूप मे व्यक्त न होगा। ससार मे हमारा आनन्द, ससार मे हमारा प्रेम ही सत्य के प्रकाश रूप की उपलब्धि है। ससार है, यह सत्य कुछ भी नही है; परन्तु ससार आनन्दमय है यह सत्य ही पूर्ण है।

आनन्द किस प्रकार से स्वय को प्रकट करता है? प्रचुरता से, ऐश्वर्य से, सौन्दर्य से। जगत् के प्रकाश मे कही भी दरिद्रता नही है, कृपणता नहीं है, जितना भी मात्र प्रयोजन है, उसी के भीतर सबका अवसान नही है। यह जो लाख लाख नक्षत्रो से आलोक का झरना सम्पूर्ण आकाश से झरता हुआ गिर रहा है, जहाँ भी आकर ठहरता है वही वर्ण से ताप से, प्राण से उच्छ्वसित हो उठता है, यह आनन्द की प्रचुरता है। जितनी आवश्यकता है, यह उसकी अपेक्षा बहुत अधिक है—यह अजस्र है। वसन्तकाल मे लतागुल्म की गाँठ गाँठ से कली बिखराकर, फूल खिलाकर, पत्ते उगाकर, एकदम जो मस्ती आरम्भ होती है, आम्रशाखाओ पर बौर भर उठते हैं और अपने तलदेश मे ढेर के ढेर झर पडते हैं, यह आनन्द की प्रचुरता है। सूर्योदय और सूर्यास्त मे मेघो के सामने जो कितने ही परिवर्तन विचित्र रगो का पागलपन प्रकट होता रहता है, इसकी कोई आवश्यकता नही दीखती—यह आनन्द की प्रचुरता है। प्रभातकाल मे पक्षियो के शत शत कण्ठो से निकले हुए स्वरो के उच्छवास से अरुण आकाश मे जैसे चारो ओर से गीतो का होली खेलना चलता रहता है, यह भी प्रयोजन के अतिरिक्त है, यह आनन्द की ही प्रचुरता है। आनन्द उदार है, आनन्द अकृपण है—सौन्दर्य मे, सम्पत्ति मे आनन्द स्वय को अन्त तक लुटाते हुए अपना ही अन्त नहीं प्राप्त कर पाता।

उत्सव के दिन मे हम जिस सत्य के नाम पर बहुत से लोग सम्मिलित होते हैं, वह आनन्द है, यह प्रेम है। उत्सव में परस्पर को परस्पर

रूप मे प्रकट होता है, जो कुछ प्रकट हो रहा है, वह उन्हीं का आनन्द रूप है उन्हीं का अमृत रूप है अर्थात् उनका प्रेम है। विश्व-जगत् उनका अमृतमय आनन्द है, उनका प्रेम है।

सत्य की परिपूर्णता ही प्रकट होना है, सत्य की परिपूर्णता ही प्रेम है, आनन्द है। हमने तो लौकिक व्यापार ही देखा है, अपूर्ण सत्य अपरिस्फुट होता है। और यह भी देखा है कि जिस सत्य को हम जितने सम्पूर्ण रूप मे उपलब्ध करेंगे, उसी मे हम उतना ही आनन्द, उतना ही प्रेम होगा। उदासीन के निकट एक तिनके मे कोई आनन्द नहीं है,

नहीं है, विश्व ही उसका निकेतन (घर) है, सत्य ही उसका आश्रय है, प्रेम उसकी चरमगति है, सभी उसके अपने हैं—क्षमा उसके लिए स्वाभाविक होगी, त्याग उसके लिए सहज होगा, मृत्यु उसके लिए होगी ही नहीं।

परन्तु कहना न होगा कि उत्सव का यह आयोजन वैसा दुःसाध्य नहीं है, जैसी दुरूह इसकी उपलब्धि है। उत्सव अपरूप सुन्दर शतदल प की भांति जब विकसित हो उठता है, तब हमारे बीच कितने लोग हैं जो मधुकर (भँवरे) की भांति इसके सुगन्धित मधुकोष में निमग्न होकर इसके सुधारस का उपभोग कर पाते हैं ? इस दिन भी सम्मिलन का हम केवल 'जनता' बना डालते हैं, आयोजन को केवल आडम्बर बना बैठते हैं। इस दिन भी तुच्छ कौतूहल से हमारा चित्त केवल बाहर ही विक्षिप्त बना घूमता है। जो आनन्द अन्तरीक्ष में अन्तहीन ज्योतिष्क लोक की चोटी चोटी पर निरन्तर आन्दोलित है, अपने घर के आँगन में दीपमाला जलाकर हम क्या उसी आनन्द की तरङ्ग में अपने आनन्द को सचेतनभाव से मिला देते हैं ? हमारी यह सगीत ध्वनि क्या हमें ससार के उसी गभीरतम अन्तःपुर में प्रवाहित करती हुई ले जाती है—जहाँ विश्व-भुवन के सभी स्वर अपनी आपात प्रतीयमान समस्त विरोध-विश्रृंखलता को मिलाकर प्रतिपल परिपूर्ण रागिनी के रूप में उन्मेषित हो उठते हैं ?

हाय, प्रतिदिन की जो दरिद्रता है, एक दिन में वह ऐश्वर्य किस तरह प्राप्त करेगी ? प्रत्येक दिन जिसका जीवन शोभा से निर्वासित है, एकाएक एक दिन में ही वह सुन्दर के साथ एकासन पर कैसे बैठ जायगा ? दिन-प्रतिदिन जो व्यक्ति सत्य से, प्रेम से प्रस्तुत हुआ है, इस उत्सव के दिन में उसी का उत्सव है। हे विश्व-यज्ञ-प्राङ्गण के उत्सव-देवता, मैं कौन हूँ ? आज उत्सव के दिन इस आसन को ग्रहण करने का अधिकार क्या मुझे है ? जीवन की नौका को मैं जो प्रतिदिन डाँड चलाकर खेता

का कोई प्रयोजन नही हो—सब प्रयोजनो से अधिक जो है, उत्सव उसी को लिए रहता है। इसीलिए उत्सव का एक प्रधान लक्षण प्राचुर्य है। इसीलिए उत्सव के दिन मे हम प्रतिदिन की कृपणता को त्याग देते हैं—प्रतिदिन जिस तरह से आवश्यकता का हिसाब लगाकर चलते हैं, आज उसे अकातरभाव से जलाजलि देदेनी पडती है। दरिद्रता के दिन अनेक हैं, आज ऐश्वर्य का दिन है। आज सौन्दर्य का दिन है। सौन्दर्य भी प्रयोजन की वृद्धि है। यह आवश्यक का नही, यह आनन्द का विकास है—यह प्रेम की भाषा है। फूल यदि सुन्दर न होते, तो वे हमारे ज्ञानगम्य होते, इन्द्रियगम्य होते—परन्तु फूल हमे जिस सौन्दर्य को देते हैं, वह अतिरिक्त दान है। यह बाहुल्य-दान ही हमसे बाहुल्य प्रतिदान ग्रहण करता है—वह जो बाहुल्य-प्रतिदान है, वही प्रेम है। इस बाहुल्य प्रतिदान को चाहे फूल से लिया जाय अथवा अन्य किसी से। परन्तु एक ओर यही बाहुल्य सौन्दर्य, दूसरी ओर यही बाहुल्य प्रेम, इन्ही को लेकर ससार मे नित्य उत्सव होते है—यही आनन्द-समुद्र की तरङ्गलीला है।

इसीलिए उत्सव का दिन सौन्दर्य का दिन है। इस दिन को हम लोग फूल-पत्तों से सजाते हैं, दीपमाला से उज्जवल करते हैं, सगीत के द्वारा मधुर बनाते हैं।

इस प्रकार मिलन के द्वारा, प्राचुर्य के द्वारा, सौन्दर्य के द्वारा हम उत्सव के दिन को वर्ष के साधारण दिनो की मुकटमणि बना देते हैं। जो आनन्द के प्राचुर्य मे, ऐश्वर्य मे, सौन्दर्य मे विश्व-जगत् के बीच अमृत रूप मे प्रकाशमान हैं—'आनन्दरूपममृत यद्विभाति'—उत्सव के दिन मे उन्हीं की उपलब्धि द्वारा पूर्ण होकर हमारा मनुष्यत्व अपने क्षणिक अवस्थागत समस्त दैन्य को दूर कर देगा एवं अन्तरात्मा का चिरन्तन ऐश्वर्य और सौन्दर्य प्रेम के आनन्द मे अनुभव और करता रहेगा। इसी दिन वह अनुभव करेगा कि वह क्षुद्र नही है, वह विच्छिन्न

तुम्हारी स्वहस्तलिखित आलोक-लिपि को लेकर प्रवेश नहीं कर पाता; उस जगह तुम्हारी उदार वायु निश्वास मात्र एकत्र करती है, अन्तःकरण के भीतर विश्व प्राण को समीरित नहीं कर पाती। उस उद्धत कारागार के पाषाण-प्रासाद से उसका उद्धार करो—अपने उत्सव-प्राङ्गण की धूलि में उसे लोटने दो। संसार में कोई भी उसे न पहिचाने, कोई भी न माने, वह केवल एक कोने में खड़ी रहकर तुम्हें पहिचाने, तुम्हें मानकर चले। उसका यह सौभाग्य कब होगा सो नहीं जानता, तुम कब उसे अपने उत्सव का अधिकारी बनाओगे। यह तुम्हीं जानो—आपाततः उसका यही निवेदन है कि यह प्रार्थना भी उसके अन्तर में जैसे यथार्थ सत्य हो उठे—सत्य को वह जैसे सत्य ही चाहे अमृत को वह जैसे मौखिक वाग्जालादम्बर के द्वारा अपमानित न करे।

मनुष्यत्व

'उत्तिष्ठत ! जाग्रत !' उत्थान करो, जाग्रत हो ओ—यह वाणी उद्‌घोषित हो गई। हम में से किसने सुनी, किसने नहीं सुनी, नहीं जानता—परन्तु 'उत्तिष्ठत जाग्रत' यह वाणी बार-बार हमारे दरवाजे पर आ पहुँचता है। संसार की प्रत्येक बाधा, प्रत्येक दुःख, प्रत्येक विच्छेद ने कई सौ बार हमारी आत्मा की तन्त्री-तन्त्री पर आघात करके जो झंकार दी है, उसमें केवल यही वाणी झंकृत हो उठी है 'उत्तिष्ठत जाग्रत'—उत्थान करो जाग्रत हो और अश्रुशिशिर धौत हमारे नव-जागरण के लिए निखिल अनिमेष नेत्रों से प्रतीक्षा करता आ रहा है—कब वह प्रभात आएगा, कब वह रात्रि का अन्धकार अपगत होकर हमारे अपूर्व विकास को निर्मल, नवोदित अरुण लोक में उद्‌घाटित कर देगा। कब हमारी चिर दिनों की वेदना सफल होगी, हमारी अश्रुधारा सार्थक होगी।

फूल से आज सुबह कहना नहीं पड़ा कि 'रंगीन सवेरा हो गया, तुम आज प्रस्फुटित हो उठो !' वन-वन में आज विचित्र फूलों ने अति अनायास ही विश्व-जगत् के अन्तर्गूढ़ आनन्द को वर्ण, गन्ध, शोभा में विकसित करके, माधुर्य के द्वारा निखिल के साथ कमनीय भाव से अपना सम्बन्ध स्थापित किया है। पुष्प स्वयं का भी पीड़न नहीं करते, अन्य किसी को भी चोट नहीं पहुँचाते, किसी भी अवस्था में द्विधा के लक्षण नहीं दीखते, सहज सार्थकता से आद्योपान्त प्रफुल्ल हो उठे हैं।

यह देख कर मन के भीतर यह आक्षेप उत्पन्न होता है कि मेरा जीवन क्यों विश्व व्यापी आनन्द-किरणों के गिरने पर ऐसी सरलता से, ऐसे सम्पूर्ण भाव से विकसित नहीं हो उठता। वह अपने सभी दलों को संकुचित करके अपने भीतर इतने प्राणपण से क्या दबाये रखता है? सुबह तरुण सूर्य आकर अरुण करके उसके दरवाजे पर आघात करता है; कहता है, 'मैंने जिस तरह से अपनी सम्पद—किरणराजि को सम्पूर्ण आकाश में बिखरा दिया है, तुम भी उसी तरह सरलता से आनन्द पूर्वक विश्व के बीच स्वयं को अबाधित करदो।' रात्रि निःशब्द पाँवों से आकर स्निग्ध हाथों से उसका स्पर्श करके कहती है, 'मैंने जिस तरह अपने अतल स्पर्श अन्धकार के भीतर से अपनी समस्त ज्योतिः सम्पदा को उन्मुक्त कर दिया है, तुम उसी तरह से एक बार हृदय के गंभीर तल के द्वार को चुपचाप उद्घाटित करदो—आत्मा के प्रच्छन्न राजभण्डार को एक क्षण में विस्मित-विश्व के सम्मुखीन कर दो।' निखिल जगत् प्रतिक्षण ही अपने विचित्र स्पर्श के द्वारा हमसे यही बात कह रहा है, 'स्वयं को विकसित करो, स्वयं को समर्पित करो, अपनी ओर से एकबार सबकी ओर घुमाओ; इस जल-स्थल-आकाश में, इस सुख-दुःख के विचित्र संसार में अनिर्वचनीय ब्रह्म के प्रति स्वयं को एक-बार सम्पूर्ण उन्मुख करके रखो।'

परन्तु बाधा का अन्त नहीं है—प्रभात के फूलों की भांति ऐसी सरलता से ऐसे परिपूर्णभाव से आत्मोत्सर्ग नहीं कर पाता। स्वयं को स्वयं के ही भीतर आवृत्त किये रखता हूँ, चारों ओर निखिल का आनन्द अभ्युदय व्यर्थ होता रहता है।

कौन कहेगा, व्यर्थ होता रहता है? प्रत्येक मनुष्य के भीतर जो अनन्त जीवन रहता है, उसकी सफलता का परिमाण कौन कर सकता है? फूलों की भांति हमारी क्षणकालीन सम्पूर्णता नहीं है। नदी जिस प्रकार अपने बहु दीर्घ तट-द्वय के धारावाहिक वैचित्र्य में से कितने ही

है—क्षुद्र आराम के भीतर, भोग विलास के भीतर जो आत्मा जड़त्व मे आविष्ट हो जाती है, ब्रह्म का आनन्द उसे नही मिलता। इसीलिए उपनिषद् ने कहा है,

'नायमात्मा बलहीनेन लभ्य ।

'यह आत्मा ('जीवात्मा' कहो या 'परमात्मा' कहो), यह बल-हीन के द्वारा लभ्य नही है।'

समग्रशक्ति को सम्पूर्णभाव से प्रयोग करने मे जितने व्यवधान होते हैं, उतने ही आत्मा को यथार्थ भाव मे प्राप्त करने के उपाय होते हैं।

इसीलिए पुष्पों के पक्ष मे पुष्पत्व जितना सहज है। मनुष्य के पक्ष में मनुष्यत्व उतना सहज नहीं है। मनुष्यत्व के भीतर से मनुष्य को जो प्राप्त करना पड़ेगा, वह निद्रित अवस्था मे प्राप्त करने की वस्तु नही है। इसीलिए ससार मे सभी कठिन आघात हमसे यही बात कहते हैं—

'उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान् निबोधत।
क्षुरस्यधारा निशिता दुरत्यया दुर्गं पथस्तत् कवयो वदन्ति।'

'उठो जागो यथार्थ गुरु को प्राप्त होकर बोध-लाभ करो। वह मार्ग सान पर चढ़ी छुरी की धार की भांति दुर्गम है, कवियो ने यही कहा है।'

अतएव प्रभात मे जब वन-उपवन मे पुष्प-पल्लवो के बीच उनकी क्षुद्र सम्पूर्णता, उनकी सहज शोभा परिपूर्णभाव मे विकसित हो उठी है, तब मनुष्य अपने दुर्गम पथ, अपने दु सहदुःख अपनी वृहद् असमाप्ति के गौरव सेमहत्तर विचित्रतर आनन्द का गीत क्या नही गाएगा। जिस प्रभात में तरु-लता के बीच केवल पुष्पो का विकास एव पल्लवो की हिल्लोल है पक्षियो का गान एव छायालोक का स्पन्दन है, उस शिशिर-धौत ज्योतिर्मयप्रभात मे मनुष्य के समाने ससार—उसका सग्राम क्षेत्र—

उस रमणीय प्रभात म मनुष्य को ही बद्ध परिकर होकर अपनी प्रति-दिन की दुरुह जय चेष्टाओ के मार्ग पर दौडना पडेगा। क्लेश को वरण कर लेना पडेगा, सुख दु ख की उत्ताल तरङ्गो के ऊपर से उसे नाव बहानी पडेगी— कारण मनुष्य महत् है। कारण मनुष्यत्व सुकठिन है, एव मानुष्य का पथ 'दुर्गं पथस्तत् कवयो वदन्ति।'

परन्तु ससार के भीतर ही यदि ससार की समाप्ति देखें तो दु ख-कष्ट का परिमाण अत्यन्त उत्कट हो उठता है उसका सामञ्जस्य नही रहता। तो इस विषम भार को कौन वहन करेगा ? परन्तु जिस तरह नदी के एक ओर परम विराम समुद्र है' दूसरी ओर सुदीर्घ तट विरुद्ध अविराम-युध्यमान जलधारा है, उसी तरह हमारा भी यदि एक ही समय मे एक ओर ब्रह्म के बीच विश्राम और दूसरी ओर ससार के बीच अविश्राम गति कम न रहे, तो इस गति का कोई तात्पर्य ही नही रहेगा, हमारी प्राणरण की चेष्टा अद्भुत उन्मत्तता के रूप म खडी हो जायगी। ब्रह्म के भीतर ही हमारे ससार का परिमाण, हमारे कर्म की गति है। शास्त्र न कहा है, ब्रह्मनिष्ट गृहस्थ।

'यद्यत् कर्म प्रकुर्वीत तद्ब्रह्मणि समर्पयेत्—'

'जो जो कर्म करें व ब्रह्म को समर्पित करदें।'

इससे एक ही समय मे कर्म एव विराम, चेष्टा एव शान्ति, दु ख एव आनन्द होगा। इसम एक ओर हमारी आत्मा का कर्तृत्व रहता है और दूसरी ओर जहाँ पर उस कर्तव्य का अतिमरूप से विलय है, वही पर उस कर्तृत्व को प्रतिक्षण विसर्जित करके हम प्रेम के आनन्द को प्राप्त करते हैं।

प्रेम तो कुछ दिए बिना बच नही सकता। हमारे कर्म, हमार कर्तृत्व यदि एकदम ही हमारे न होते तो, ब्रह्म मे विसर्जित किसे करते ? तब भक्ति अपनी सार्थकता का लाभ किस तरह करती ? ससार म ही हमारे कर्म हमारे कर्तृत्व हैं, इसीलिए हमारे देने की

वस्तु हैं। हमारे प्रेम की चरम सार्थकता होगी—जब हमारे सभी कर्म सभी कर्तृत्व आनन्द पूर्वक ब्रह्म मे समर्पित कर सकेंगे। अन्यथा कर्म हमारे लिए निरर्थक भार एव कर्तृत्व वस्तुत ससार का दासत्व हो उठेगा। पतिव्रता स्त्री के लिए उसके पतिगृह का कर्म ही गौरव है, उसका आनन्द है, वह कर्म उसका बन्धन नहीं है, पतिप्रेम के भीतर ही वह प्रतिक्षण मुक्ति लाभ करती है, वह पतिप्रेम के भीतर ही उसके विचित्र कर्मों का अखण्ड ऐक्य है, उसमे अनेक दुखो का एक आनन्द-अवसान है—ब्रह्म के समार मे हम जब ब्रह्म के कर्म करेंगे, सभी कर्म ब्रह्म को देंगे, तब वे कर्म और मुक्ति एक ही वान बनकर रह जायेंगे, तब एक ब्रह्म मे हमारे सभी कर्मों का वैचित्र्य विलीन हो जायगा, सम्पूर्ण दुखों की झकार एक आनन्द सगीत में परिपूर्ण हो उठेगी।

प्रेम जिस वस्तु का दान करता है वह दान जितना ही कठिन होता है, इतना ही उसकी सार्थकता का आनन्द निविड हो जाता है। सन्तान के प्रति जननी का स्नेह दुख के द्वारा ही सम्पूर्ण है—प्रीतिमान ही कष्ट द्वारा स्वय को समग्र भाव से प्रमाणित करके कृतार्थ होती है। ब्रह्म के प्रति जब हमारी प्रीति जाग्रत होगी, तब हमारा ससार-धर्म दुख क्लेश द्वारा ही सार्थक होगा वह हमारे प्रेम को ही प्रतिदिन उज्ज्वल करेगा। अलङ्कृत करेगा, ब्रह्म के प्रति अपने आत्मोसर्ग को दुख के मूल्य से ही मूल्यवान किया जा सकेगा।

हे प्राणो के प्राण, नेत्रो के नेत्र श्रोत्र के श्रोत्र, मनके मन, मेरी दृष्टि श्रवण चिन्ता, मेरे सम्पूर्ण कर्म, तुम्हारी ओर ही दिन-रात चल दुख रहे हैं, इसे मैं नही जानता इसीलिए अपनी इच्छाकृत न होने के कारण पाता हूँ। मैं सभी को अन्यभाव से बलपूर्वक अपना कहना चाहता हूँ—बल की रक्षा नही हो पाती, मेरा कुछ भी नही रहता। निखिल की ओर से, तुम्हारी ओर से सर्वस्व को अपनी ओर खीच खीच कर रखने की निष्फल चेष्टा मे प्रतिदिन पीडित होता रहता हूँ। आज मैं और

कुछ नहीं चाहता, मैं आज पाने की प्रार्थना नहीं करूँगा, कि मैं देना चाहता हूँ, देने की शक्ति चाहता हूँ। तुम्हारे समीप मैं स्वयं को परिपूर्णरूप से विरक्त करूँगा, रिक्त करके परिपूर्ण करूँगा। तुम्हारे संसार में कर्म के द्वारा तुम्हारी जो सेवा करूँ, वह निरन्तर होकर मेरे प्रेम को जाग्रत् निष्ठावान बनाये रहे, तुम्हारे अमृत समुद्र में जो अतलस्पर्शी विश्राम है वह भी मुझे अवसानहीन शक्ति का दान करे। तुम दिन-दिन स्तर-स्तर पर मुझे शतदल पद्म की भांति विश्व-जगत के बीच विकसित करते हुए अपनी ही पूजा के अर्घ्यरूप में ग्रहण करते रहो।

प्राचीन भारत का एकः

'वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येकस्तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम्।'

'वृक्ष की भाँति आकाश में स्तब्ध खड़ा हुआ है वही एक। उसी पुरुष से, उसी परिपूर्ण से यह सब कुछ पूर्ण है।'

'यथा सौम्य वयांसि वासोवृक्षं सम्प्रतिष्ठन्ते।
एवं ह वै तत् सर्वं पर आत्मनि सम्प्रतिष्ठते।'

'हे सौम्य, जिस प्रकार सब पक्षी अपने निवास-वृक्ष पर आकर स्थिर हो जाते हैं, उसी तरह यह जो कुछ है वह सब परमात्मा में प्रतिष्ठित होकर रह जाता है।'

नदी जिस तरह अनेक टेढे मार्गों से, सरल मार्गों से, अनेक शाखा-उपशाखाओं को वहन करती हुई, अनेक झरनों की धाराओं से परिपुष्ट होकर, अनेक बाधा-विपत्तियों को भेद कर एक महासमुद्र की ओर धावमान होती है—मनुष्य का चित्त उसी तरह गम्यस्थान को न जानते हुए भी असीम विश्व वैचित्र्य में केवल एक ओर से दूसरी ओर को कहाँ चला जा रहा है? कुतूहली विज्ञान खण्ड खण्ड पदार्थ के द्वार-द्वार पर अणु परमाणु के बीच किस को ढूँढ रहा है? स्नेह प्रीति पग-पग

मित पथिक ने सुना, पथ के कोने पर छाया निविड तपोवन मे गंभीर मन्त्र से यह वार्ता उद्गीत हो रही है,

'वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येक स्तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम् ।'

'वृक्ष की भाँति आकाश मे स्तब्ध खडा हुआ है वही एक। उसी पुरुष से, उसी परिपूर्ण से यह सब कुछ पूर्ण है।'

सम्पूर्ण पथ समाप्त हुआ, सम्पूर्ण पथ के कष्ट दूर हो गये। तब अन्तहीन कार्य-कारण की क्लान्तिकर शाखा-प्रशाखाओं से उत्तीर्ण होकर ज्ञान ने कहा,

'एकधैवानुद्रष्टव्यमेतदप्रमेयं ध्रुवम् ।'

'विचित्र विश्व के चचल बहुत्व के बीच इस अपरिमेय ध्रुव को एक दम ही देखना पडेगा।'

सहस्रो विभीषिकाओ और विस्मयो के बीच देवता की खोज मे श्रान्त भक्ति ने तब बोली,

'एव सर्वेश्वर एष भूताधिपतिरेष भूतपाल एष सेतुर्विधरण एषां लोकानामसम्भेदाय ।'

'यह एक ही सबका ईश्वर, सब जीवो का अधिपति, सब जीवो का पालन कर्त्ता है—यह एक ही सेतुस्वरूप होकर सब लोको को धारण करके ध्वस से रक्षा कर रहा है।'

— बाहर के बहुतर आघात-आकर्षण से विनष्ट विक्षिप्त प्रेम ने कहा,

'तदेतत् प्रेय पुत्रात् प्रेयो वित्तात्,
प्रेयो ऽन्यस्मात् सर्वस्मादन्तरतर यदयमात्मा ।'

'वह जो एक हैं, वे सब से अन्तरतर परमात्मा हैं, वे ही पुत्र से प्रिय, वित्त से प्रिय, अन्य सभी से प्रिय हैं।'

क्षण भर मे ही विश्व के बहुत्व-विरोध के बीच एक की ध्रुव शान्ति परिपूर्ण होकर दिखाई दी—एक के सत्य, एक के अभय, एक के आनन्द ने विच्छिन्न जगत् को एक करके अप्रमेय सौन्दर्य मे गूँथ दिया।

शिशिर निषिक्त शीत के प्रत्यूष में पूर्व दिशा में जब अरुणवर्ण, लघुवाष्पाच्छन्न विशाल प्रान्तर के बीच आसन्न जागरण की एक अखण्ड शान्ति विराजमान रहती है—जब लगता है कि जीवधात्री माता वसुन्धरा ने ब्राह्ममुहूर्त में प्रथम नेत्र-उन्मीलन किया है, अभी भी उस *विश्वगेहिनी ने अपने विपुल गृह के असख्य-जीव पाल कार्य को आरम्भ* नहीं किया है, वे जैसे दिवसारम्भ में ओंकार मत्र का उच्चारण कर जगन्मन्दिर के उद्‌घाटित स्वर्णतोरण द्वार पर ब्रह्माण्ड पति के समीप मस्तक अवनत करके स्तब्ध हो गई हैं—तब यदि विचार करके देखें तो प्रतीत होगा कि उस निर्जन नि.शब्द नीहारमण्डित प्रान्तर के बीच प्रयास का अन्त नही है। प्रत्येक तृणदल के अणु अणु मे जीवन की विचित्र चेष्टा निरन्तर है, प्रत्येक शिशिर के कण कण में सयोजन वियोजन, आकर्षण-विकर्षण का कार्य विश्राम-विहीन है। अथच इस अश्रान्त अपरिमेय कर्म-व्यापार के बीच शान्ति सौन्दर्य अचल हो आया है। अच इस मुहूर्त मे इस प्रकाण्ड पृथ्वी को जो प्रचण्ड शक्ति प्रबल वेग से शून्य में आकर्षित करके ले जा रही है, वह शक्ति हमारे समीप बात तक नही करती, शब्द मात्र नहीं करती। आप इसी क्षण पृथ्वी को परिवेष्टित करके समस्त महासमुद्र मे जो लाख-लाख तरङ्ग सगर्जन ताण्डव नृत्य कर रही हैं,शत-सहस्र नदी-निर्झरों से जो कल्लोल उठ रही हैं, वन-वन मे जो आन्दोलन है, पत्ते-पत्ते मे जो मर्मरध्वनि है, हम उसके बारे मे क्या जानते हैं ? जिस विश्वव्यापी महाकर्मशाला मे दिन-रात्रि लक्ष कोटि ज्योतिष्कदीपों का निर्वाण नही है, उसके अनन्त कलरव ने किसे वधिर बनाया है, उसके प्रचण्ड प्रयास के दृश्य किसे पीडित करते हैं, इस कर्मजाल वेष्टित पृथ्वी को जब वृहद् भाव से देखता हूँ, तो दीखता है, वह चिरदिन अक्लान्त, अक्लिष्ट, प्रशान्त, सुन्दर है—इतने कर्मों से, इतनी चेष्टाओ से, इतने जन्म-मृत्यु, सुख दु.ख की अविश्राम चक्ररेखाओ से वह चिन्तित-चिह्नितभाराक्रान्त नही है। सदैव ही उसका

प्रभात कैसा सौम्य सुन्दर, उसका मध्यान्ह कैसा शान्त गंभीर उसक सायाह्न कैसा करुण-कोमल, उसकी रात्रि कैसी उदार-उदासीन होती है। इतने वैचित्र्य एवं प्रयासो के बीच यह स्थिर शान्ति एवं सौन्दर्य, इतने कलरव के बीच यह परिपूर्ण सगीत किस प्रकार से सम्भव हो सका ? इसका एक उत्तर यही है कि,

'वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येकः।'

'महाकाश मे वृक्ष की भाँति स्तब्ध बना हुआ है वही 'एक'।'

इसीलिए वैचित्र्य भी सुन्दर है एव विश्व-कर्म के बीच भी विश्व-व्यापी शान्ति विराजमान है।

गभीर रात्रि मे अनावृत आकाश के नीचे चारों दिशाएँ कैसी निभृत एवं स्वयं को कैसा एकाकी अनुभव किया जाता है। अथच उस समय आलोक की यवनिका के अपसारित हो जाने पर हठात् हम जान लेते हैं कि अँधेरे सभातल मे ज्योतिष्क लोक की अनन्त जनता के बीच हम दण्डायमान हैं। यह कैसा अपरूप आश्चर्य है, अनन्त जगत की निभृत निर्जनता है। कितने ज्योतिर्मय एवं कितने ज्योतिहीन महासूर्य-मण्डल, कितने अगण्य योजनव्यापी चक्र पथ पर घूर्ण नृत्य, कितने उद्दाम वाष्प संघात, कितने भीषण अग्नि-उच्छ्वास हैं, उन्ही के मध्य-स्थल मे मैं पूर्णरूपेण निभृत मे, एकान्त निर्जन मे रह रहा हूँ—शान्ति एवं विराम की सीमा ही नही है। ऐसा सम्भव कैसे हुआ ? इसका कारण,

'वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येकः।'

अन्यथा यह जगत्, जो विचित्र है, जो अगण्य है, जिसका प्रत्येक कण-कणिका तक कम्पित-घूर्णित है, वह कैसा भयंकर है। वैचित्र्य यदि एक-विरहित हो, अगण्यता यदि एक सूत्र मे ग्रथित न हो, सभी उद्यत शक्तियाँ यदि स्तब्ध एक के द्वारा पकडी न जा सकें, तब वह कैसा कराल होगा, तब विश्व-संसार कैसी अनिर्वचनीय विभीषिका लगेगा।

तब हम दुर्धर्ष जगत्पुन्ज के बीच किसके बल पर इतने निश्चिन्त बने हुए हैं ? यह महा-अपरिचित जिसका प्रत्येक कण भी हमारे लिए दुर्भेद्य-रहस्य है, किसके विश्वास से हम इसे चिर-परिचित मातृ क्रोड की भांति अनुभव कर रहे हैं। यह जिस आसन के ऊपर हम इस क्षण भी बैठे हुए हैं, इसके बीच संयोजन-वियोजन की जो महाशक्ति काम कर रही है, यह इसी आसन से आरम्भ होकर सूर्य लोक नक्षत्र लोक तक अविच्छिन्न-अखण्डभाव से चली गई है, वह युग-युगान्तर से निरन्तरभाव से लोक-लोकान्तर को पिण्डीकृत-पृथक् कृत बना रही है; मैं उसी की गोद के ऊपर निर्भय आराम से बैठा हूँ, उसकी भीषण सत्ता को जान भी नहीं पाता हूँ, वह विश्वव्यापी विराट व्यापार मेरे विश्राम में लेशमात्र भी हानि नहीं पहुँचाता। इसके भीतर हम खेल रहे हैं, गृह-निर्माण कर रहे हैं—यह हमारा कौन है ? इससे पूछने पर यह कोई भी उत्तर नहीं देता। यह दिशा-दिशा से आकाश से आकाशान्तर में निरुद्देश्य होकर शतधा-सहस्रधा चला गया है—इस मूक मूढ महाबहुरूपी के साथ किसने हमें ऐसे प्रिय, परिचित, आत्मीय सम्बन्ध में बांध दिया है ? उन्होंने जो,

'वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येकः।'

इसी 'एक' को हम विश्व की विचित्रता के बीच सुन्दर एवं विश्व की शक्ति के बीच शान्तिस्वरूप में देख रहे हैं। उसी तरह मनुष्य के संसार के बीच उस स्तब्ध 'एक' का भाव क्या है ? वह भाव ही मङ्गल है। यहाँ आघात-प्रतिघात की सीमा नहीं है, यहाँ सुख दुःख, विरह-मिलन, विपत्ति-सम्पत्ति, लाभ-हानि से संसार के सर्वत्र सभी क्षण विक्षुब्ध हो गये हैं। परन्तु इस चाञ्चल्य इस संग्राम के बीच वही 'एक' नियत स्तब्ध बना हुआ है, इसीलिए संसार ध्वंस को प्राप्त नहीं होता। इसीलि नाना विरोध-विद्वेष के बीच भी पिता-माता के साथ पुत्र, भाई के साथ भाई पड़ोसी के साथ पड़ोसी, समीपवर्ती के साथ दूरवर्ती,

प्रतिदिन प्रतिक्षण ही सम्बन्धित बने रहते हैं। उस ऐक्यजाल को हम क्षणिक के आक्षेप से जितना ही छिन्न विच्छिन्न करते हैं, उतना ही वह स्वयं ही जुड़ जाया करता है। जैसे खण्डभाव से हम जगत् के भीतर असख्य कदर्यता देख पाते हैं, परन्तु उसके रहते हुए भी समस्त जगत् महासौन्दर्य से प्रकाशित है—उसी तरह खण्डभाव से ससार मे पाप-ताप की सीमा नही है, तथापि ससार अविच्छिन्न मगल सूत्र मे चिर-दिन के लिए बँधा हुआ है। इसके अंश के भीतर कितनी ही अशान्ति, कितना ही असमजस्य दीख पाता है, फिर भी इसके समग्र का मगल-आदर्श किसी तरह भी नष्ट नही होता। इसीलिए मनुष्य ससार को इतनी सरलता से आश्रय किए हुए है। इतना वृहत् लोक-सघ, इतने असख्य अनालीय, इतने प्रबल स्वार्थ सघात हैं, फिर भी यह ससार रमणीय है; फिर भी यह हम सबकी रक्षा और पालन करने की चेष्टा करता है, नष्ट नही करता। इसके दुःख-ताप भी महामगल-सगीत की एक तान से अपूर्व छन्द मे मिल उठते हैं, क्योंकि

'वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येकः।'

हम अपने जीवन को प्रतिक्षण खण्ड-खण्ड करते रहते हैं, इसीलिए ससार का ताप दु.सह होता है। समस्त क्षुद्र विच्छिन्नता को उसी महान एक के बीच गूँथ पाने पर, समस्त आक्षेप-विक्षेप के हाथ से परित्राण पा लेते हैं। समस्त हृदयवृत्ति, समस्त कर्म चेष्टा को उसके द्वारा समाच्छन्न करके देखने पर किस बाधा से मेरी अधीरता है, किस विघ्न से मेरा नैराश्य है, किस आदमी की बात से मेरा क्षोभ है, किस क्षमता से मेरा अहकार है, किस विफलता से मेरी ग्लानि है। वैसा होते ही मेरे सभी कर्मों के बीच धैर्य और शान्ति, सभी हृदयवृत्तियों के बीच सौन्दर्य और मङ्गल उद्भासित हो उठता है, दु ख-ताप पुण्य से विकसित एव ससार की समस्त आघात-वेदना माधुर्य से उच्छ्वसित हो उठती है। उस समय सर्वत्र उसी स्तब्ध 'एक' का मगल-बन्धन अनुभव करके

ससार मे दुःख के अस्तित्व को दुर्भेद्य प्रहेलिका के रूप मे नहीं गिनता—दुःख के बीच, शोक के बीच, अभाव के बीच, नतमस्तक होकर उन्हीं को स्वीकार करता हूँ, जिनके भीतर युग-युगान्तर से समस्त जगत्-ससार के समस्त दुःख-तापो का समस्त तात्पर्य अखण्ड मगल मे परिसमाप्त हो आया है।

'मृत्यो स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति।'

'वह मृत्यु द्वारा मृत्यु को प्राप्त होता है, जो इन्हें अनेक करके देखता है।'

खण्डता मे कदर्यता है सौन्दर्य एक मे है; खण्डता मे प्रयास है, शान्ति एक मे है, खण्डता मे विरोध है, मङ्गल एक मे है उसी तरह खण्डता मे ही मृत्यु है, अमृत उस 'एक' मे ही है। उसी 'एक' को छिन्न-विच्छिन्न करके देखने पर सहस्रो के हाथ से फिर अपनी रक्षा नहीं कर पाता। उस समय विषय प्रबल हो उठता है, धन-जन-मान बड़ा आकार धारण करके हमे घुमाते रहते हैं, अश्वरथ ईंट-काठ मर्यादा प्राप्त करते हैं, द्रव्य सामग्री सग्रह-चेष्टा का अन्त नही रहता, पड़ोसी के साथ निरन्तर प्रतियोगिता जग उठती है, जीवन के अन्तिम दिन तक खींच-तान-लपक-झपक के स्वप्न को खण्डित करते रहतेहैं—एव मृत्यु जब तब हमारे इस भाण्डार के द्वार से हमे अकस्मात खींच कर ले जाती है, उस अन्तिम क्षण मे समस्त जीवन की बहु-विरोध से सचित स्तूपाकार द्रव्य-सामग्रियो को प्रियतम कह कर, आत्मा का परम आश्रय स्थल कह कर अन्तिम शक्ति से छाती से चिपटा कर रखना चाहते हैं।

'मनसैवेदमाप्तव्य नेह नानस्ति किञ्चन।'

'मन के द्वारा यही प्राप्त किया जाता है कि इसमे 'नाना' कुछ भी नही है।'

विश्व-जगत के बीच जो अप्रमेय ध्रुव बने रहते हैं, वे बाह्यरूप से एक भाव मे कहीं भी प्रतिभासित नही हैं; मन ही 'नाना' के बीच

उसी 'एक' को देखता है, उसी 'एक' की प्रार्थना करता है, उसी 'एक' का आश्रय लेकर अपने को चरितार्थ करता है। 'नाना' के बीच उसी 'एक' को न पाकर मन की सुख शान्ति-मङ्गल नहीं, रहते, उसके उद्भ्रान्त भ्रमण का अवसान नही रहता। उसी ध्रुव 'एक' के साथ मन स्वय को दृढभाव से युक्त नही कर पाने पर वह अमृत के साथ सयुक्त नहीं होता। वह खण्ड-खण्ड मृत्यु द्वारा आहत, ताडित, विक्षिप्त होकर घूमता रहता है। मन अपने स्वाभाविक धर्म-वश ही कभी जानकर, कभी अनजाने, कभी टेढे रास्ते से, कभी सरल मार्ग से, सभी ज्ञान के बीच, सभी भावों के बीच दिन-रात उसी परम ऐक्य के परम आनन्द को ढूँढता फिरता है। जब पाता है तब एक क्षण मे ही कह उठता है, मैंने अमृत को पाया कह उठता है,

> 'वेदाहयेत पुरुष महान्त,
> मादित्यवर्ण तमसः परस्तात्।
> य एतद्विदुरमृतान्ते भवन्ति।'

'अन्धकार के पार मैंने इस ज्योतिर्मय महान् पुरुष को जाना है। जो इन्हे जानते हैं, वे अमर हो जाते है।

पत्नी मैत्रेयी को समस्त सम्पत्ति देकर याज्ञवल्क्य जब वन मे जाने को प्रस्तुत हुए तब मैत्रेयी ने पति से जिज्ञासा की, इस सब को लेकर क्या मैं अमर हो सकूँगी? याज्ञवल्क्य ने कहा, नहीं, जो लोग उपकरणों को लेकर रहते हैं, उनकी जैसी स्थिति होती है, तुम्हारा जीवन भी वैसा ही होगा। तब मैत्रेयी ने कहा,

> 'येनाह नामृता स्या किमह तेन कुर्याम्।'

'जिसका द्वारा मैं अमृता न बनूँगी, उसे लेकर मैं क्या करूँगी।'

जो बहु है, जो विच्छिन्न है, जो मृत्यु द्वारा आक्रान्त है, उसको त्याग कर मैत्रेयी ने अखण्ड अमृत 'एक' मे आश्रय प्राप्त करने की प्रार्थना की थी। मृत्यु इस जगत् के साथ विचित्र के साथ, अनेक के

साथ हमारे सम्बन्धों का परिवर्तन कर देती है, परन्तु उसी 'एक' के साथ हमारे सम्बन्ध में परिवर्त। नहीं ला सकती। अतएव जिन साधक ने समस्त अन्त करण सहित उसी 'एक' का आश्रय लिया है, उन्होंने अमृत का वरण किया है, उन्हें किसी हानि का भय नहीं है, विच्छेद की आशङ्का नहीं है। वे जानते हैं, जीवन के सुख-दुख नियत चञ्चल हैं, परन्तु उनके भीतर वही कल्याण रूपी 'एक' स्तब्ध बना रह रहा है, लाभ हानि रोज आती है, जाती है, परन्तु वह 'एक' परम लाभ के बीच स्तब्ध—होकर विराज रहा है। विश्व की सम्पत्ति पल पल पर अपलित हो रही है, परन्तु,

'एषास्य परमा गति, एषास्य परमो सम्पत्।
एषोऽस्य परमो लोक, एषोऽस्य परम आनन्द'।'

'वही एक रहे हैं—जो जीवों की परमा गति हैं, जो जीवो की परमा सम्पत्ति हैं, जो जीवो के परम लोक हैं, जो जीवो के परम आनन्द हैं।'

रेशम—पशम, आसन, वसन, काष्ठ लोष्ठ, स्वर्ण-रौप्य को लेकर कौन विरोध करेगा। वे हमारे कौन हैं? वे हमें क्या दे सकते हैं? वे हमारी परम सम्पत्ति को ओट म कर रहे हैं, उनसे दिन रात्रि के बीच लेशमात्र क्षोभ अनुभव नहीं होता। केवल उनके पू जीकृत सचय में गर्व का अनुभव होता है। हाथी, घोडा, कौच, पत्थर का ही गौरव, आत्मा का गौरव नहीं है—शून्य हृदय मे हृदयेश्वर का स्थान नहीं है। सर्वापेक्षा हीनतम दीनता जो परमार्थ हीनता है, उसके द्वारा समस्त अन्त:करण रिक्त, श्री हीन, मलिन हो जाता है, केवल वस्त्र आभूषणों से, उपकरण आयोजन से ही मैं स्फीत हूँ। जगदीश्वर का कार्य नहीं कर पाता; क्योंकि शय्या आसन वेशभूषा के निकट हस्ताक्षर कर दिये हैं, जड उपकरण जजालो के समीप सिर को बेच बैठा हूँ—उन सब धूलिमय पदार्थों की धूलि झाडने मे ही मेरे दिन बीते जा रहे हैं। ईश्वर के हित

मे मुझ मे कुछ भी देने की सामर्थ्य नही है, कारण खाट-पर्यङ्क-अश्व रथ मे ही मेरा सम्पूर्ण दान नि.शेषित है। समस्त मङ्गल कर्म पड़े हुए हैं, कारण पाँच लोगो के मुँह से अपने नाम को ध्वनित करवाने के आडम्बर मे जीवन-यापन करने मे ही मेरी समस्त चेष्टाओं का अवसान है। सैकडो छिद्र वाले कलश के भीतर जल-सचय करने के लिए जीवन के अन्तिम मुहूर्त तक व्यापृत स्तब्ध बना रहता हूँ; अवारित अमृत पारावार के सम्मुख स्तब्ध बना रहता हू, जो सभी सत्यो के सत्य हैं, भीतर-बाहर, ज्ञान-धर्म मे कही भी उन्हे नही देखता—इतनी बडी अन्धता को लेकर मैं परितृप्त हूँ। जो 'आनन्दरूपममृतम्' है, जिसे आनन्द के कणमात्र आनन्द से समस्त जीव-जन्तुओ के प्राणों की चेष्टा, मन की चेष्टा, पुण्य की चेष्टा उत्साहित बनी रहती है—उसमे मेरा आनन्द नही है, मेरा आनन्द, मेरा गर्व केवल उपकरण सामग्री में है—ऐसे वृहत् जडत्व मे मैं परिवृत हूँ। जिनके अदृश्य अगुलि निर्देश से जीव-प्रकृति अज्ञात, अकीर्तित सहस्र-सहस्र वर्षों से स्वार्थ मे से परमार्थ मे, स्वेच्छाचार से सयम मे, एककता से समाज तन्त्र मे उपनीत हुई है, जो महद्भय वज्रमुद्यतम्' हैं, जो दाधेन्धनइवाकल: है, सर्वकाल सर्वलोक में जो मेरे ईश्वर है, उनके आदेश-वाक्य मेरे कर्णगोचर नही होते; उनके कर्म में मेरी कोई आस्था नही है, केवल जीवन के कुछ दिन मात्र जो कुछ लोगो को पाँच लोगों के रूप मे जानता हूँ, उन्ही के भय से एव उन्ही के चाटुवाक्य से सचालित होना ही मेरे दुर्लभ मानव-जीवन का एक मात्र लक्ष्य है—ऐसी महामूढता द्वारा मैं समाच्छन्न हूँ। मैं जानता नही हूँ, मैं देख नही पाता हूँ।

'वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येक स्तेनेद पुरुषेण सर्वम्।

मेरे लिए सम्पूर्ण जगत छिन्न विच्छिन है, समस्त ज्ञान खण्ड विखण्ड है, समस्त जीवन का लक्ष्य छोटे छोटे सहस्र अशों मे विभक्त-विकीर्ण है।

हे अनन्त विश्व-संसार के परम एक परमात्मम्, तुम मेरे सम्पूर्ण चित्त को ग्रहण करो। तुम सम्पूर्ण जगत् के साथ-साथ मुझे भी पूर्ण करके स्तब्ध बने हुए हैं, तुम्हारी उस पूर्णता को मैं अपने देह-मन मे, भीतर-बाहर, ज्ञान-कर्म-भाव मे जैसे प्रत्यक्ष उपलब्ध कर सकूँ। मैं स्वय को सर्वतोभाव से तुम्हारे द्वारा आवृत्त रखकर चुपचाप निरभिमान होकर तुम्हारे कर्म को करना चाहता हूँ। तुम निरन्तर आदेश करो, तुम आह्वान करो, अपनी प्रसन्न दृष्टि द्वारा मुझे आनन्द दो, अपनी दक्षिण बाहु द्वारा मुझे बल-प्रदान करो। अवसाद के दुर्दिन जब आएँगे, बन्धुलोग जब निरस्त हो जाएँगे, लोग जब लांछना देंगे अनुकूलता जब दुर्लभ हो जायगी, तुम मुझे परास्त, भूलुण्ठित मत होने देना; मुझे सहस्रों का मुखापेक्षी मत करना; मुझे सहस्रो के भय से भीत, सहस्रो के वाक्य से विचलित, सहस्रो के आकर्षण से विक्षिप्त न होना पड़े। एक तुम्ही मेरे चित्त के एकासन पर अधीश्वर होओ, मेरे समस्त कर्मों पर एकाकी अधिकार करो, मेरे समस्त अभिमान का दमन करके मेरी सम्पूर्ण प्रवृत्ति को अपने पदप्रान्त मे एकत्र सयत किए रहो। हे अक्षर पुरुष, पुरातन भारतवर्ष मे तुम्हारे द्वारा जब पुरानी प्रज्ञा प्रसृति हुई थी, तब हमारे सरल हृदय पितामहों ने ब्रह्म का अभय, ब्रह्म का आनन्द क्या है, उसे जान लिया था। वे 'एक' के बल से बली थे, 'एक' के तेज से तेजस्वी थे, 'एक' के गौरव से महीयान हुये थे। पतित भारतवर्ष के लिये पुनर्वार उन्ही प्रज्ञालोकित, निर्मल, निर्भय, ज्योतिर्मय दिनो की तुम मे प्रार्थना करता हूँ। पृथ्वीतल पर एक बार और हमलोगो को अपने सिंहासन की ओर सिर उठा कर खड़ा होने दो। हम केवल युद्ध-विग्रह, यन्त्र-तन्त्र वाणिज्य व्यवसाय के द्वारा ही नही, हम सुकठिन, सुनिर्मल, सन्तोष, बलिष्ठ ब्रह्मचर्य के द्वारा महिमान्वित हो उठना चाहते हैं। हम राजत्व नही चाहते, प्रभुत्व नहीं चाहते, ऐश्वर्य नही चाहते, प्रतिदिन एक बार भूर्भुव स्वः लोक के बीच

तुम्हारी महासभा के नीचे एकाकी दण्डायमान होने का अधिकार चाहते हैं। वैसा होने पर फिर हमारा अपमान नहीं होगा, आधीनता नही रहेगी, दारिद्रय नही रहेगा। हमारी वेश-भूषा दीन रहे, हमारी उपकरण-सामग्री विरल हो, उससे हम लेशमात्र भी लज्जा न पायें—परन्तु चित्त मे भय न रहे, क्षुद्रता न रहे, बन्धन न रहे। आत्मा की मर्यादा सभी मर्यादाओं के ऊपर बनी रहे, तुम्हारी ही दीप्ति से ब्रह्म-परायण भारतवर्ष का मुकुट विहीन उन्नत ललाट जैसे ज्योतिष्मान् हो उठे। हमारे चारो ओर सभ्यताभिमानी विज्ञान-मद-मत्त, बाहु-बल-गर्वित स्वार्थ-निष्ठुर जातियाँ जिसे लेकर दिन-रात नख-दन्तो को पैना रही हैं, परस्पर के प्रति सतर्क-रुष्ट कटाक्ष निक्षेप कर रही हैं, पृथ्वी को आतङ्क से कम्पान्वित और भ्रातृ-शोणित पात से पंकिल बना रही है, उन सब काम्य वस्तुओ एवं उस परिस्फीत-आत्माभिमान के द्वारा वे कभी भी अमर नही होगीं—उनके यन्त्र-तन्त्र, उनका विज्ञान, उनके पर्वत प्रमाण उपकरण उन सब की रक्षा नही कर पायेंगे। उनकी उस बल-मत्तता, धन-मत्तता, उस उपकरण-बहुलता के प्रति भारतवर्ष को लोभ उत्पन्न न हो। हे अद्वितीय एक, तपस्विनी भारतभूमि जैसे अपने वल्कल-वस्त्र पहन करके तुम्हारी ओर देखती हुई ब्रह्मवादिनी मैत्रेयी के उसी मधुर कण्ठ मे कह सके।

'येनाह नामृता स्या किमहं तेन कुर्याम्।'

'जिस के द्वारा मैं अमृता न बन सकूँ, उसे लेकर मैं क्या करूँगी!'

तोप के धुएँ और स्वर्णधूलि के द्वारा समाच्छन्न तमसावृत राष्ट्र गौरव की ओर भारत की दृष्टि को आकर्षित मत करना; अपने उस अन्धकारहीन लोक के प्रति दीन भारत के नत-मस्तक को ऊँचा करो।

'यदाऽ न मस्तन्न दिवा न रात्रिर्न सन्न चा सञ्चिव एष केवल:।'

'जब तुम्हारा यह अनन्धकार आविर्भूत होता है तब कहाँ दिन, कहाँ रात्रि, कहाँ सत्, कहाँ असत् रहता है।'

'शिव एव केवल'

'उस समय केवल शिव, केवल मङ्गल रहता है।'

'नमः शम्भवाय च मयोभवाय च,
नमः शङ्कराय च मयस्कराय च,
नमः शिवाय च शिवतराय च।'

'हे शम्भव, हे मयोभव, तुम्हे नमस्कार है, हे शकर, हे मयस्कर, तुम्हे नमस्कार है; हे शिव, हे शिवतर, तुम्हे नमस्कार है।'

प्रार्थना

सभी जानते हैं, एक कहानी है—देवता ने एक व्यक्ति को तीन वर देने चाहे थे। इतने बड़े सुयोग में वह अभागा क्या मांगे, यह सोचकर विह्वल हो गया; अन्त में उद्भ्रान्त चित्त से जो तीन मांगें रक्खी, वे ऐसी अकिंचित्कर थी कि उसके बाद जीवन भर अनुताप करते हुए ही उसके दिन बीते।

इस कहानी का तात्पर्य यही है कि हम मन में सोचते हैं कि पृथ्वी पर और कुछ जानें या न जानें, इच्छा ही शायद हमारे लिए सबसे अधिक जाज्वल्यमान है। हम सब की अपेक्षा क्या चाहते हैं, वही शायद सबकी अपेक्षा हमारे लिए सुस्पष्ट है—परन्तु वह भ्रम है। हमारी यथार्थ इच्छा हमसे अगोचर रहती है।

अगोचर रहने का एक कारण है—उस इच्छा ने ही हमें अनेक अनुकूल और प्रतिकूल अवस्थाओं द्वारा गढ़ने का भार ले रक्खा है। जो विराट् इच्छा सम्पूर्ण मनुष्यों को मनुष्य बनाने में संलग्न है, वह इच्छा ही हमारे हृदय में रह कर काम करती है। तब तक यह इच्छा गुप्त रूप से काम करती है, जब तक मैं स्वयं को सर्वांश में उसके अनुकूल नहीं बना लेता हूँ। उसके ऊपर हस्तक्षेप करने का अधिकार हमने प्राप्त नहीं किया है, इसीलिए वह हमारी पकड़ में नहीं आती।

हमारी सबसे सच्ची इच्छा, नित्य इच्छा कौन सी है? जो इच्छा हमारी सार्थकता के साधन में निरत है। हमारी सार्थकता हमारे

समीप जब तक रहस्य है, वह इच्छा भी तब तक हमारे समीप गुप्त रहती है। किससे हमारा पेट भरेगा, हमारा नाम होगा, उसे कहना कठिन नही है, परन्तु 'किससे मैं सम्पूर्ण होऊँगा' इसकी खोज पृथ्वी पर कितने लोग कर पाये हैं? मैं कौन हूँ, मेरे भीतर जो एक प्रकार-चेष्टा चल रही है, उसका परिणाम क्या है उसकी गति किस दिशा मे है, इसे स्पष्ट रूप से कौन जानता है?

अतएव देवता यदि वर देने आयें तो हठात् देखूँगा कि प्रार्थना जताने के लिए भी प्रस्तुत नही हूँ। तब यही बात कहनी पडेगी, मेरी यथार्थ प्रार्थना क्या है, उसे जानने के लिए मुझे सुदीर्घ समय दो। अन्यथा उपस्थित अनुसार अचानक कुछ भी माँग लेने पर शायद भयानक धोखे मे पड जाना होगा।

वस्तुत: हमने वही समय लिया है, हमारा जीवन इसी काम मे लगा हुआ है। हम क्या प्रार्थना करेंगे, उसी की दिन-रात परख कर रहे हैं। आज कहते हैं खेल, कल कहते हैं धन, दूसरे दिन कहते हैं मान—इस तरह से संसार का अविश्राम मथन कर रहे हैं, आलोडन कर रहे हैं। किसके लिए? हम यथार्थ मे क्या चाहते हैं, उसी का पता पाने के लिए। मन को लगता है—रुपये ढूँढ रहे हैं, बन्धुओं को ढूँढ रहे हैं, मान को ढूँढ रहे हैं, परन्तु असल मे और कुछ नही, 'किसे ढूँढ रहे हैं' इसी के लिए अनेक स्थानो पर ढूँढते फिर रहे हैं; हमारी प्रार्थना क्या है, उसी को नही जानते।

जिन लोगो ने अपने हृदय मे प्रार्थना को ढूँढ़ कर पा लिया बताया जाता है, वे क्या कहते हैं, इस बारे मे सुना गया है। वे कहते हैं एक मात्र प्रार्थना है, वह यह है।

असतो मा सद्गमय
तमसो मा ज्योतिर्गमय
मृत्योर्मामृत गमय

आविरावीर्य एधि ।
रुद्र यत्ते दक्षिण मुख
तेन मा पाहि नित्यम्।'

'असत्य से मुझे सत्य मे ले जाओ, अन्धकार से मुझे ज्योति मे ले जाओ, मृत्यु से मुझे अमृत मे ले जाओ। हे स्वप्रकाश, मेरे समीप प्रकाशित होओ। रुद्र, तुम्हारा जो प्रसन्नमुख है, उसके द्वारा मेरी सदैव रक्षा करो।'

परन्तु कान मे सुनकर कोई फल नही होता एव मुँह से उच्चारण करते जाना और भी व्यर्थ है। हम जब सत्य को, आलोक को, अमृत को वास्तव मे चाहेगे, सम्पूर्ण जीवन मे उसका परिचय देंगे, तभी यह प्रार्थना सार्थक होगी। जिस प्रार्थना को मैंने अपने मन के भीतर नही पाया, उसके पूर्ण होने का कोई मार्ग मेरे सामने नही है। अतएव, सभी ने सुना अवश्य है, मन्त्र भी कर्णगोचर हुआ है, परन्तु फिरभी अभी तक प्रार्थना करने से पूर्व प्रार्थना को ही सम्पूर्ण जीवन देकर ढूँढकर प्राप्त करना होगा।

वनस्पति हो उठने की एक मात्र प्रार्थना बीज के शस्याश के भीतर सहजभाव से, निगूढ भाव से निहित बनी रहती है, परन्तु जब तक वह अकुरित होकर सभी आकाश मे, आलोक मे सिर नही उठाती, तब तक वह 'न रहने' जैसी ही बनी रहती है। सत्य की आकाक्षा, अमृत की आकाक्षा हमारी आकाक्षाओ मे अन्तर्निहित है, परन्तु तब तक हम उसे नही जानते जब तक वह हमारे सम्पूर्ण धूलिस्तर को विदीर्ण करके मुक्त आकाश मे पंख नही फैला देती।

हमारी यह यथार्थ प्रार्थना क्या है, इसे कई बार दूसरों के बीच से हमे जानना पडता है। संसार के महापुरुष हमे अपनी अन्तर्गूढ इच्छा को जानने में सहायता देते हैं। हम चिर दिनो से समझते आ रहे हैं कि हम शायद पेट ही भरना चाहते हैं, आराम ही

हैं; परन्तु जब देखते हैं कि कोई धन-मान-आराम की उपेक्षा करके सत्य, आलोक और अमृत के लिए जीवन उत्सर्ग कर रहे है, तब हठात् एक प्रकार से समझ लेते हैं कि हमारी अन्तरात्मा के भीतर जो इच्छा हमारी नाजानकारी में काम कर रही है, उसी को उन्होंने अपने जीवन के भीतर उपलब्ध किया है। अपनी इच्छा को जब उनके भीतर प्रत्यक्ष देख पाते हैं, तब अन्ततः क्षणकाल के लिए ही जान लेते हैं कि किसके प्रति हमारी यथार्थ भक्ति है, हमारे अन्तर की आकांक्षा क्या है।

तब एक बात और भी समझ में आती है। यह समझ लेते हैं कि यह समस्त इच्छा प्रतिक्षण हमारे सुगोचर है, जो केवल हमारी ताडना करता है, वही हमारी अन्तरतम इच्छा को, हमारी सार्थकता-लाभ की प्रार्थना को बाधा दे रहा है, स्फूर्ति नहीं दे रहा है; उसको केवल अपनी चेतना का अन्तरालवर्ती, अपनी चेष्टा के बहिर्गत करके रख छोड़ा है।

और, जिनकी बात कह रहा हूँ, उनके पक्ष में ठीक इसके विपरीत है। जो मंगल-इच्छा, जो सार्थकता की इच्छा विश्व-मानव की मज्जा-स्वरूप है, जो मानव-समाज के बीच चिरकालीन अकथित वाणी से इस मन्त्र का गान कर रही है—'असतो मा सद्गमय, तमसो मा ज्योतिर्गमय, मृत्योर्मामृतं गमय'—यह इच्छा ही उनके समीप सर्वापेक्षा प्रत्यक्ष है; अन्य समस्त इच्छाएँ छाया की भाँति उसकी पश्चात्वर्ती, उसकी पदतलगत हैं। वे जानते हैं—सत्य, आलोक, अमृत ही चाहिए; मनुष्य के लिए यह न होने पर कुछ नहीं है। अन्न-वस्त्र, धनमान को वे क्षणिक और आंशिक आवश्यक के रूप में ही जानते हैं। विश्व-मानव की अन्तर्निहित यह इच्छा शक्ति उनके भीतर से जगत् में प्रत्यक्ष होती है इसी कारण प्रमाणित होने के कारण ही वे चिरकाल के लिए मानव की सामग्री हो उठते हैं। और हम खाते-पहनते हैं, रुपया कमाते हैं नाम करते हैं, मरते हैं और जलकर राख हो जाते हैं—मानव की

चिरन्तन-इच्छा को अपने जीवन के भीतर प्रतिफलित नही कर पाते, मानव-समाज मे वह जीवन का क्षणिक मूल्य क्षण भर मे ही समाप्त हो जाता है ।

परन्तु महापुरुषो के दृष्टान्त द्वारा भूल को समझने की एक सभावना रहती है । समझ मे आता है कि क्षमतासाध्य, प्रतिभासाध्य कर्म के द्वारा ही शायद मनुष्य सत्य, आलोक अमृत के अनुसन्धान का परिचय देता है ।

ऐसा किसी तरह भी नही हो सकता । ऐसा यदि होता, तो पृथ्वी के अधिकाश लोग अमृत की आशा तक नही कर सकते थे । जो साधारण बुद्धिवल वाहुवल के लिए दु:साध्य है, उसी के लिए प्रतिभा अथवा असामान्य शारीरिक शक्ति की आवश्यकता है; परन्तु सत्य का अवलम्बन लेना आलोक को ग्रहण करना, अमृत को वरण कर लेना, यह केवल एकान्तभाव से यथार्थभाव से इच्छा का कर्म है । यह और कुछ नही है—जो समीप ही है, उसी को प्राप्त करना है ।

ईश्वर ने यही पर हमारे गौरव की रक्षा की है । उन्ही ने सब दिया है, अथच यही हमारे कहने के लिए रख छोडा है कि हमी ने प्राप्त किया है । यह प्राप्त करना ही सफलता है, यही लाभ है; प्राप्त करना सभी समय लाभ नही होता—वह अधिकाश स्थल पर 'पाना' और 'न पाना', एव अवशिष्ट स्थल पर एक विषम समस्या है । आर्थिक-पारमार्थिक सभी विषयो मे यह बात लागू होती है ।

ऋषि ने कहा है—

'आविरावीर्य एधि ।'

'हे स्वप्रकाश, मेरे समीप प्रकाशित होओ ।' तुम तो स्वप्रकाश, अपने आप ही प्रकाशित हो ही, अब मेरे समीप प्रकाशित होओ, यही मेरी प्रार्थना है । तुम्हारे लिए प्रकाश का अभाव नही है, मेरे लिए उसी प्रकाश को उपलब्ध करने का सुयोग शेष है । जब तक मैं तुम्हे नही

देख लूँगा, तब तक तुम परिपूर्ण प्रकाश होने पर भी मेरे समीप दिखाई नही दोगे। सूर्य तो अपने प्रकाश से स्वयं ही प्रकाशित हैं; अब केवल मेरे ही आँखें खोलने की, जाग्रत होने की अपेक्षा है। जब हमारी आंख खोलने की इच्छा होती है, हम आंख खोलते हैं; उस समय सूर्य हमारी ओर नये रूप मे कुछ नही देते, उन्होने जो स्वय को स्वय ही दान कर रक्खा है, इसी को हम क्षण भर में समझ लेते हैं।

अतएव देखा जाता है कि हम लोग जो कुछ चाहते हैं उसे यथार्थ भाव से जान पाना ही प्रार्थना का आरम्भ है। जब उसे जान लेते हैं, तब सिद्धि मे और अधिक विलम्ब नही रहता, तब दूर जाने की आवश्यकता नही होती। तब समझा जा सकता है कि समस्त मानवो की नित्य आकांक्षा हमारे भीतर जाग्रत हुई है—यह सुमहत् आकांक्षा ही अपने भीतर अपनी सफलता को अति सुन्दर भाव से, अति सहज भाव से वहन कर लाती है।

अपनी छोटी-बडी सभी इच्छाओ को मानव की इस बडी इच्छा मे, इस मर्मगत प्रार्थना से मांग कर लेना पडेगा। निश्चय समझना पडेगा, हमारी जो कोई इच्छा इस सत्य, आलोक, अमृत की इच्छा का अतिक्रम करती है, वही हमे छोटा बनाती है, वही केवल हमी को नही, सभी मनुष्यो को पीछे की ओर खीचती रहती है।

यह बात केवल हमारे खाने पहिनने, हमारे धन-मान अर्जित करने के सम्बन्ध मे लागू होती हो, ऐसी बात नही है—हमारी बडी-बडी चेष्टाओ के सम्बन्ध मे और भी अधिक लागू होती है।

जैसे देश हितैषिता। यह प्रवृत्ति यद्यपि हमे आत्म त्याग और दुष्कर तप.साधन की ओर ले जाती है, फिर भी यह मनुष्यत्व के गुरुतर अन्तराय के रूप मे हो सकती है। इसका प्रमाण हमारे सामने ही है, हमारे समीप ही रहता है। यूरोपीय जातियों ने इसी को अपने चरम लक्ष्य, परम धर्म के रूप मे ग्रहण किया है। प्रतिदिन

ही सत्य को, आलोक को, अमृत को यूरोप की दृष्टि से ओझल कर रही है। यूरोप की स्वदेशासक्ति ही मनुष्यत्व-प्राप्ति की इच्छा को, सार्थकता लाभ की इच्छा को प्रबल वेग से प्रतिहत कर रही है, एवं यूरोपीय सभ्यता अधिकांश पृथ्वी के पक्ष मे प्रकाण्ड विभीषिका बन उठती है। यूरोप केवल मिट्टी चाहता है, सोना चाहता है प्रभुत्व चाहता है—ऐसे लोलुपभाव मे, ऐसे भीषण भाव से चाहता है, कि सत्य, आलोक और अमृत के लिए मनुष्य की जो चिरन्तन प्रार्थना है, वह यूरोप के समीप उत्तरोत्तर प्रच्छन्न होती हुई, उसे उद्दाम बनाये दे रही है। यही विनाश का पथ है—पथ नही है—यही मृत्यु है।

हमारे सामने, हमारे अत्यन्त समीप यूरोप का यह दृष्टान्त हमे प्रतिदिन मोहाभिभूत करता रहता है। परन्तु भारतवर्ष को केवल यही बात याद रखनी होगी कि सत्य, आलोक, अमृत ही प्रार्थना की सामग्री है—विषयानुराग हो या देशानुराग हो, अपने उद्देश्य अथवा उद्देश्य साधन के उपाय में जहाँ भी इस सत्य, आलोक और अमृत का अतिक्रम करना चाहेंगे, वहीं पर उसे अभिशाप देकर कहना पड़ेगा—विनिपात! कहना कठिन है, प्रलोभन प्रबल है, क्षमता के मोह का अतिक्रम करना अति दुःसाध्य है, फिर भी भारतवर्ष ने यह बात स्पष्ट रूप से कही है,

'अधर्मेणैधते तावत् ततो भद्राणि पश्यति।
स तः सपत्नान् जयति समूलस्तु विनश्यति ॥'

शान्तं शिवमद्वैतम्

अनन्त विश्व के प्रचण्ड शक्ति-सब दसों दिशाओं में दौड़े हैं; जो 'शान्त' हैं उन्होंने केन्द्रस्थल पर ध्रुव बने रहकर अच्छेद्य शान्ति की लगाम से सभी को बाँध रखा है, कोई किसी का अतिक्रम नहीं कर पा रहा है। मृत्यु चारों ओर सचारण कर रही है, परन्तु किसी का भी विनाश नहीं करती; संसार की सभी चेष्टाएँ अपने-अपने स्थान पर एकमात्र प्रबल हैं, परन्तु उन सब के बीच आश्चर्यजनक सामंजस्य स्थापित करते हुए अनन्त आकाश में एक विपुल सौन्दर्य का विकास हो रहा है। कितने ही उत्थान-पतन, कितने ही तोड़-फोड़ चल रहे हैं; कितनी खींच-तान, कितने ही विप्लव हैं; फिर भी लाख लाख वर्षों के अविश्राम आघात-चिह्न संसार की चिर-नवीन मुखच्छवि की ओर लक्ष्य ही नहीं कर पाते हैं। संसार की अनन्त चलाचल, अनन्त कोलाहल के मर्मस्थान से निरन्तर एक मन्त्रध्वनित हो रहा है, 'शान्तिः शान्तिः शान्तिः।' जो 'शान्त' हैं, उन्हीं की आनन्दमूर्ति चराचर के महासन के ऊपर ध्रुवरूप से प्रतिष्ठित है।

हमारी अन्तरात्मा में भी वही शान्त जो नियत रूप से विराज रहे हैं, उनका साक्षात्कार किस उपाय से होगा? उस शान्तस्वरूप की उपासना किस तरह से करनी होगी? उनका शान्त रूप हमारे समीप कब प्रकाशित होगा?

हमारे स्वयं शान्त होने पर ही इस शान्तस्वरूप का आविर्भाव हमारे समीप सुस्पष्ट होगा। हमारी अति क्षुद्र अशान्ति से संसार का

जितना अंश अपच्छन्न हो जाता है, क्या उसे लक्ष्य करके नहीं देखा है ? निभृत नदीतीर पर प्रशान्त सन्ध्या में केवल हम दो व्यक्ति ही यदि कलह करें, तो सायान्ह की वह अपरिमेय स्निग्ध निःशब्दता हमारे पदतल के तृणाग्र से आरम्भ होकर सुदूरतम नक्षत्रलोक तक परि-व्याप्त हो जाती है। केवल दो अति क्षुद्र व्यक्तियों के अतिक्षुद्र कण्ठ के कलरव मे उसे हम अनुभव भी नही कर पाते हैं। हमारे मन के थोड़े से भय मे ही जगत-चराचर विभीषिकामय हो उठता है, हमारे मन के थोड़े से लोभ से हमारे समीप के समस्त वृहद् संसार की मुखश्री पर विकार छा जाता है। इसीलिए कहता हूँ, जो शान्त हैं उन्हें सत्य भाव से किस तरह अनुभव किया जा सकेगा, यदि मैं ही शान्त न होऊँ ? हमारे अन्तःकरण का चाञ्चल्य केवल अपनी ही तरगों को बड़ा करके दिखाता है, उसी की कल्लोल विश्व की अन्तरतम वाणी को आच्छन्न कर देता है।

अनेक दिशाओं में हमारी अनेक प्रवृत्तियाँ जो उद्दाम गति से दौड़ रही हैं, हमारे मन को वे कभी इस पथ पर, कभी उस पथ पर भगाये ले जा रही हैं, इन सब को दृढ़रश्मि द्वारा संयत करके, सब को परस्पर सामजस्य के नियम मे आवद्ध करके, अन्तःकरण के भीतर कर्तृत्व लाभ करके, चचल परिधि के बीच अचचल केन्द्र को स्थापित करके ही इस विश्व-चराचर के बीच जो शान्त हैं, उनकी उपासना, उनकी उपलब्धि सम्भव हो सकती है।

जीवन के ह्रास को, शक्ति के अभाव को हम शान्ति के रूप में कल्पना करते हैं। जीवन हीन शान्ति तो मृत्यु है, शक्ति हीन शान्ति तो लुप्ति है। समस्त जीवन की समस्त शक्ति के अचलप्रतिष्ठित आधारस्व-रूप मे जो विराज रहा है, वही शान्ति है; अदृश्य रह कर समस्त स्वरों को जो सङ्गीत, समस्त घटनाओं को जो इतिहास बना रहे हैं, एक के साथ दूसरे के जो सेतु हैं, समस्त दिन-रात्रि, मास-पक्ष, ऋतु-सम्वत्सर

चलते चलते हुए भी जिनके द्वारा विधृत् हो जाते हैं, वे ही 'शान्तम्' हैं। अपनी सम्पूर्ण शक्ति को जो साधक विक्षिप्त न करके धारण कर लेते हैं, उनके समीप यह परम शान्त स्वरूप प्रत्यक्ष होता है।

भाप ही केवल रेलगाडी को चलाती हो, ऐसा नहीं है, भाप को जिस स्थिर बुद्धि ने लौह शृंखला मे बांध दिया है, वही गाडी को चलाती है। गाडी की मशीनें चलती हैं, गाडी के पहिये दौड़ते हैं, फिर भी गाडी के भीतर गाडी की यह चाल ही 'कर्त्ता' नहीं है, समस्त 'चाल' के भीतर जो अचल रूप मे है, यथेष्ट परिमाण 'चाल' को यथेष्ट परिमाण 'अचलता' के द्वारा जो व्यक्ति प्रतिपल स्थिर भाव मे नियमित करता है, वही कर्त्ता है। एक बडे कारखाने के बीच कोई अज्ञ व्यक्ति यदि प्रवेश करता है, तो वह सोचता है कि यह एक दानवीय व्यापार है; पहिये का प्रत्येक आवर्त्तन, लौहदण्ड का प्रत्येक आस्फालन, वाष्पपुंज का प्रत्येक उच्छ्वास उसके मन को एकदम विभ्रान्त कर सकता है, परन्तु अभिज्ञ व्यक्ति इस हिलने डोलन, चलने-फिरने के मूल मे एक स्थिर शक्ति को देख पाता है—वह जानता है, भय को किसने अभय किया है, शक्ति को कौन सफल कर रहा है, गति के बीच स्थिति कहाँ पर है, कर्म के बीच परिणाम क्या है। वह जानता है, यह शक्ति जिसका आश्रय लेकर चल रही है वह शान्ति है, वह जानता है, जिस जगह इस शक्ति का सार्थक परिणाम है वहाँ भी शान्ति है। शान्ति के बीच सभी गतियों, सभी शक्तियों का तात्पर्य पा कर वह निर्भय हो जाता है, वह आनन्दित हो जाता है।

इस ससार मे जो प्रबल प्रचण्ड शक्ति केवल मात्र शक्तिरूप मे विभीषिका है, शान्त ने उसी को फल-फूल मे प्राण सौन्दर्य मे मगलमय कर दिया है। कारण, जो शान्त हैं, वे ही शिवम् हैं। इस शान्तस्वरूप जगत् की समस्त उद्दाम शक्ति को धारण करके एक मगल-लक्ष्य की ओर लिये जा रहे हैं। शक्ति इसी शान्ति से उद्गत है और शान्ति के द्वारा

विधृत होने के कारण ही वह मंगल रूप मे प्रकाशित है। वह धात्री के समान निखिल-जगत् की अनादिकाल से अनिद्रभाव से प्रत्येक पल पर रक्षा कर रहे हैं। वे सब के मध्य मे आसीन होकर विश्व ससार के छोटे से लेकर बड़े तक प्रत्येक पदार्थ को परस्पर के साथ अविच्छेद्य सम्बन्ध-बन्धन मे बांधते रहते हैं। पृथ्वी के धूलिकण तक लक्षयोजन दूरवर्ती सूर्य, चन्द्र, ग्रह, ताराओ के साथ नाड़ी के योग से युक्त हैं। कोई किसी के भी लिए अनावश्यक नही है। एक विपुल परिवार, एक विराट कलरव के रूप मे निखिल विश्व अपने प्रत्येक अंश-प्रत्यंश, अपने प्रत्येक अणु-परमाणु के बीच से एक ही रक्षण-सूत्र मे, एक ही पालन-सूत्र मे ग्रथित है। वही रमणी-शक्ति, वही पालनी-शक्ति अनेक मूर्ति धारण कर जगत् मे सचरण कर रही है; मृत्यु उसका एक रूप है, क्षति उसका एक रूप है, दुःख उसका एक रूप है; उसी मृत्यु, क्षति और दुःख के बीच होकर भी मगतर प्रकाश की लीला आनन्द से अभिव्यक्त हो उठती है। जन्म-मृत्यु, सुख-दुःख, लाभ-हानि सभी के बीच शिव शान्त रूप मे विराजमान हैं। अन्यथा इस सब भार को एक पल भी कौन वहन करता? अन्यथा आज जो सम्बन्ध-बन्धन के रूप में हमे परस्पर आकर्षित किए रखता है, वह आघात करके हम सब को चूर्ण कर डालता। जो आलिङ्गन है, वही पीड़न हो उठता है। आज सूर्य हमारा मङ्गल करता है, ग्रह-तारे हमारा मङ्गल करते हैं, जल,स्थल, आकाश हमारा मगल करते हैं, जिस विश्व के एक बालुकण को भी मैं सम्पूर्ण रूप से नहीं जानता, उसी के विराट् प्रागण मे मैं घर के बच्चे की भांति निश्चिन्तमन से खेलता रहता हूँ; मैं जिस तरह सबका हूँ, उसी तरह सभी मेरे हैं—यह किस तरह हुआ? जो इस प्रश्न के एकमात्र उत्तर हैं, वे निखिल के सभी आकर्षण सभी सम्बन्ध, सभी कर्मों के बीच निगूढ़ होकर, निस्तब्ध होकर सबकी रक्षा कर रहे हैं। वे शिवम् हैं।

चलते-चलते हुए भी जिनके द्वारा विधृत् हो जाते हैं, वे ही 'शान्तम्' हैं। अपनी सम्पूर्ण शक्ति को जो साधक विक्षिप्त न करके धारण कर लेते हैं, उनके समीप यह परम शान्त स्वरूप प्रत्यक्ष होता है।

भाप ही केवल रेलगाड़ी को चलाती हो, ऐसा नहीं है, भाप को जिस स्थिर बुद्धि ने लौह शृंखला में बाँध दिया है, वही गाड़ी को चलाती है। गाड़ी की मशीनें चलती है, गाड़ी के पहिये दौड़ते हैं, फिर भी गाड़ी के भीतर गाड़ी की यह चाल ही 'कर्त्ता' नहीं है, समस्त 'चाल' के भीतर जो अचल रूप में है यथेष्ट परिमाण 'चाल' को यथेष्ट परिमाण 'अचलता' के द्वारा जो व्यक्ति प्रतिपल स्थिर भाव में नियमित करता है, वही कर्त्ता है। एक बड़े कारखाने के बीच कोई अज्ञ व्यक्ति यदि प्रवेश करता है, तो वह सोचता है कि यह एक दानवीय-व्यापार है; पहिये का प्रत्येक आवर्तन, लौहदण्ड का प्रत्येक आस्फालन, वाष्पपुञ्ज का प्रत्येक उच्छ्वास उसके मन को एकदम विभ्रान्त कर सकता है; परन्तु अभिज्ञ व्यक्ति इस हिलने-डोलने, चलने-फिरने के मूल में एक स्थिर शक्ति को देख पाता है—वह जानता है, भय को किसने अभय किया है, शक्ति को कौन सफल कर रहा है, गति के बीच स्थिति कहाँ पर है, कर्म के बीच परिणाम क्या है। वह जानता है, यह शक्ति जिसका आश्रय लेकर चल रही है वह शान्ति है, वह जानता है, जिस जगह इस शक्ति का सार्थक परिणाम है वहाँ भी शान्ति है। शांति के बीच सभी गतियों, सभी शक्तियों का तात्पर्य पा कर वह निर्भय हो जाता है, वह आनन्दित हो जाता है।

दम पिस तो नहीं जाते। क्यों नहीं पिस जाते ? समस्त गणनातीत वैचित्र्य के बीच ऐक्य-संचार करके वे जो उपस्थित है, जो एकमात्र हैं, जो अद्वैतम् हैं। इसीलिए मनुष्य का मन अपने सब बोझ को उतार कर छुटकारा पाने के लिये अनेक के भीतर उन्हीं को ढूंढता फिर रहा है, जो 'अद्वैतम' हैं। हमारे सर्वस्व को लेकर यदि यह एक न रहना, तो हम मे से कोई क्या किसी को तनिक भी जान पाता ? तब हमारे परस्पर के बीच किसी तरह का आदान-प्रदान क्या तनिक भी हो सकता था ? तब हम परस्पर के भाव और परस्पर के आघात को क्या एक क्षण भी सहन कर सकते थे ? 'बहु' के बीच 'ऐक्य' का सन्धान पाते ही हमारी बुद्धि की श्रान्ति (थकावट) दूर हो जाती है, पराये के साथ अपना ऐक्य उपलब्ध करके ही हमारा हृदय आनन्दित हो जाता है। वास्तव मे, प्रधानतः हम जो कुछ चाहते हैं, उसका लक्ष्य ही यही ऐक्य है। हम धन चाहते हैं, कारण, एक धन के भीतर छोटे-बड़े बहुत मे विषय ऐक्य प्राप्त करते हैं; इसीलिए बहुत से विषयो को प्रतिदिन पृथक् रूप मे संग्रह करने का दु.ख और विच्छिन्नता धन के द्वारा ही दूर होती है। हम ख्याति चाहते हैं, कारण, एक ख्याति के द्वारा अनेक लोगो के साथ हमारा सम्बन्ध एकदम बँध जाता है—जिसके पास ख्याति नहीं है, वह सब लोगो से जैसे पृथक् है। विचार करके देखने पर पता चलेगा कि जहाँ पार्थक्य है, मनुष्य का दु.ख वही है, क्लान्ति वही है; कारण मनुष्य की सीमा वही है। जो आत्मीय अपने साथ हमे श्रान्त नहीं करते; जो मित्र हमारे चित्त को प्रतिहत नहीं करते; जिसे हम पराये के रूप मे जानते हैं, वही हमें बाधा देता है, वही अभाव अथवा विरोध का कष्ट देकर हमे कुछ-न-कुछ पीड़ित करता है। पृथ्वी पर हम सभी मिलन के बीच, सभी सम्बन्धो के बीच, ऐक्य बोध करने मात्र से ही जिस आनन्द का अनुभव करते हैं, उससे उसी अद्वैत का निर्देश करते हैं। हमारी सभी आकांक्षाओ के मूल मे, ज्ञान अथवा अज्ञान से उसी अद्वैत की खोज बनी रहती है। अद्वैत ही आनन्द है।

इस शिवस्वरूप को सत्यभाव से उपलब्ध करने के लिए हमे भी समस्त अशिव का परिहार करके शिव होना पडेगा। अर्थात्, शुभ कर्मों मे प्रवृत्त होना पडेगा। जिस प्रकार शक्ति-हीनता के भीतर शान्ति नहीं है, उसी तरह कर्म-हीनता के भीतर भी मगल (कल्याण) को कोई प्राप्त नही कर सकता। उदासीनता मे मगल नही है। कर्म-समुद्र का मथन करके ही मगल या अमृत प्राप्त किया जाता है; भले-बुरे का द्वन्द्व, देवता-दैत्य के सघात के भीतर से ही दुर्गम ससार-पथ की सब दुरूह बाधाओं को काटकर ही उस मगल-निकेतन के द्वार पर पहुँचा जा सकता है—शुभ कर्म साधन द्वारा समस्त क्षति विपत्ति, क्षोभ-विक्षोभ के ऊपर अपने अपराजित हृदय के भीतर मङ्गल को जब धारण करूँगा, तभी जगत् के सभी कर्मों के, सभी उत्थान—पतन के बीच सुस्पष्ट देख सकूँगा कि वे ही रह रहे हैं जो 'शान्त' हैं, जो 'शिवम्' हैं। तब घोरतर दुर्लक्षण देखकर भी भय नही पाऊँगा; नैराश्य के घने अन्धकार मे अपनी सम्पूर्ण शक्ति को जहाँ परास्त देखूँगा, वहाँ भी समझ लूँगा कि यह उन्होंने कर रक्खा है जो 'शिवम्' हैं।

मै अद्वैतम् हैं। वे अद्वितीय हैं, वे एक है।

ससार के सब कुछ को पृथक् करके, विचित्र करके गणना करने पर बुद्धि अभिभूत हो जाती है, हमे हार माननी पडती है। फिर भी तो सख्या के अतीत इस वैचित्र्य के महासमुद्र मे हम पागल नही हो जाते, हम विचार तो कर सकते हैं, हम अति क्षुद्र लोग भी इस अपरिसीम वैचित्र्य के साथ एक व्यावहारिक सम्बन्ध तो प्राप्त कर सकते हैं। प्रत्येक धूलिकण के सम्बन्ध मे हमें प्रतिपल स्वतन्त्र रूप से सोचना तो नही पडता; समस्त पृथ्वी को हम एक साथ तो ग्रहण कर लेते हैं, उसमे तो कोई बाधा नही पडती। कितनी ही वस्तुएँ, कितने ही कर्म, कितने ही मनुष्य, कितने ही लाख कोटि विषय हमारे ज्ञान के भीतर समझ मे आते हैं, परन्तु उस समझने के भार से हमारे हृदय-मन एक-

हम पिस तो नहीं जाते। क्यों नहीं पिस जाते? समस्त गणनातीत वैचित्र्य के बीच ऐक्य-संचार करके वे जो उपस्थित हैं, जो एकमात्र हैं, जो अद्वैतम् हैं। इसीलिए मनुष्य का मन अपने सब बोझ को उतार कर छुटकारा पाने के लिये अनेक के भीतर उन्हीं को ढूंढ़ता फिर रहा है, जो 'अद्वैतम्' हैं। हमारे सर्वस्व को लेकर यदि यह एक न रहता, तो हम में से कोई क्या किसी को तनिक भी जान पाता? तब हमारे पर-स्पर के बीच किसी तरह का आदान-प्रदान क्या तनिक भी हो सकता था? तब हम परस्पर के भाव और परस्पर के आघात को क्या एक क्षण भी सहन कर सकते थे? 'बहु' के बीच 'ऐक्य' का सन्धान पाते ही हमारी बुद्धि की श्रान्ति (थकावट) दूर हो जाती है, पराये के साथ अपना ऐक्य उपलब्ध करके ही हमारा हृदय आनन्दित हो जाता है। वास्तव में, प्रधानतः हम जो कुछ चाहते हैं, उसका लक्ष्य ही यही ऐक्य है। हम धन चाहते हैं, कारण, एक धन के भीतर छोटे-बड़े बहुत से विषय ऐक्य प्राप्त करते हैं; इसीलिए बहुत से विषयों को प्रतिदिन पृथक् रूप में संग्रह करने का दुःख और विच्छिन्नता धन के द्वारा ही दूर होती है। हम ख्याति चाहते हैं, कारण, एक ख्याति के द्वारा अनेक लोगों के साथ हमारा सम्बन्ध एकदम बंध जाता है—जिसके पास ख्याति नहीं है, वह सब लोगों से जैसे पृथक् है। विचार करके देखने पर पता चलेगा कि जहां पार्थक्य है, मनुष्य का दुःख वहीं है, क्लान्ति वहीं है; कारण मनुष्य की सीमा वहीं है। जो आत्मीय अपने साथ हमें श्रान्त नहीं करते; जो मित्र हमारे चित्त को प्रतिहत नहीं करते; जिसे हम पराये के रूप में जानते हैं, वही हमें बाधा देता है, वही अभाव अथवा विरोध का कष्ट देकर हमें कुछ-न-कुछ पीड़ित करता है। पृथ्वी पर हम सभी मिलन के बीच, सभी सम्बन्धों के बीच, ऐक्य बोध करने मात्र से ही जिस आनन्द का अनुभव करते हैं, उससे उसी अद्वैत का निर्देश करते हैं। हमारी सभी आकांक्षाओं के मूल में, ज्ञान अथवा अज्ञान से उसी अद्वैत की खोज बनी रहती है। अद्वैत ही आनन्द है।

यह जो 'अद्वैत' हैं, उनकी उपासना किस तरह की जाय ? पराये को अपना बनाकर, अहमिका को दूर करके, विरोध के काटे को उखाड कर, प्रेम के पथ को प्रशस्त करके,

'आत्मवत् सर्वभूतेषु यः पश्यति सपश्यति ।'

'सभी प्राणियों को जो आत्मवत् देखता है वही यथार्थ मे देख रहा है।' कारण, वह जगत् के समस्त पार्थक्य के बीच जो परम सत्य 'अद्वैत' हैं, उन्ही को देखता है। दूसरे पर जब आघात करने जाते हैं, तब उस अद्वैत की उपलब्धि को खो देते है, इसीलिए उससे दुःख देते हैं और दुःख पाते हैं; अपने स्वार्थ की ओर देखते हैं, तब वही 'अद्वैत' प्रच्छन्न हो जाते हैं, इसीलिए स्वार्थ-साधना मे इतना मोह, इतना दुःख है।

ज्ञान से, कर्म से और प्रेम से शान्त को, शिव को और अद्वैत को उपलब्ध करने का एक पर्याय उपनिषद के 'शान्तं शिवमद्वैतम्' मन्त्र मे कैसे निगूढभाव से निहित है, उसी को विचार करके देखो।

पहले 'शान्तम्' है। आरम्भ मे ही जगत् की विचित्र शक्ति मनुष्य की दृष्टि मे पडती है। जब तक शान्ति से उसकी पर्याप्ति नहीं दीखती तब तक कितना भय, कितना संशय, कितनी अमूलक कल्पना रहती है। सभी शक्तियो के मूल मे जब अमोघ नियमों के बीच 'शान्त' को देख पाते है, तब हमारी कल्पना शान्ति प्राप्त करती है। शक्ति के बीच वे नियमस्वरूप है, वे शान्तम् हैं। मनुष्य अपने अन्तःकरण के भीतर भी प्रवृत्ति रूपिणी अनेक शक्तियों को लेकर ससार मे प्रवेश करता है, जब तक उनके ऊपर कर्तृत्व लाभ नही कर पाता, तब तक पग-पग पर विपत्ति रहती है, तब तक दुःख की सीमा नही रहती। अतएव इस सम्पूर्ण शक्ति को शान्ति के बीच सम्वरण करके ले आना ही मनुष्य के जीवन का पहला काम है। इस साधना मे जब सिद्ध हो जायेंगे, तब जल-स्थल, आकाश मे उसी शान्तस्वरूप को देखेंगे, जो जगत् की

असख्य शक्तियो को नियमित करके अनादि-अनन्त काल तक स्थिर रहे आते हैं। इसीलिए हमारे जीवन का पहला आश्रम ब्रह्मचर्य है—शक्ति के बीच शान्ति-लाभ की माधना।

फिर 'शिवम्' है। संयम के द्वारा शक्ति को आयत्त कर पाने पर ही कर्म करना सहज होता है। इस तरह से जब कर्म आरम्भ किया जाता है, तब अनेक लोको लोगो के साथ अनेक सबधों में बँध जाना पडता है। यह अपने-पराये का सम्बन्ध कितना ही भला-बुरा, कितना ही पाप-पुण्यमय, कितना ही घात प्रतिघात पूर्ण क्यो न हो। शान्ति जिस तरह शक्ति को यथोचित भाव से सवरण करके उसका विरोध-भजन कर देती है, उसी तरह ससार मे अपने-पराये के शत-सहस्र सम्बन्धो की अपरिसीम जटिलता के बीच कौन सामजस्य स्थापित करता है? मङ्गल! शान्ति के न रहने पर जगत्-प्रकृति की प्रलय है, मङ्गल के न रहने पर मानव-समाज का ध्वस है। 'शान्त' को शक्ति-सकुल जगत् मे उपलब्ध करना पडेगा, शिव को सम्बन्ध-सकुल ससार मे उपलब्ध करना होगा। उनके शान्तस्वरूप की ज्ञान के द्वारा और उनके शिव-स्वरूप की शुभकर्मों के द्वारा मन मे धारणा करनी होगी। हमारे शास्त्र मे विधान है, पहले ब्रह्मचर्य, बाद मे गार्हस्थ्य—पहले शिक्षा के द्वारा तय्यार होना, बाद मे कर्म के द्वारा परिपक्व होना। पहले शान्त, बाद मे शिवम्।

उसके बाद 'अद्वैतम्' है। यहीं पर समाप्ति है। शिक्षा से भी समाप्ति नही है, कर्म से भी समाप्ति नही है। कितना सीखें कितना काम करे? कही पर भी तो उसका कुछ परिणाम है। वह परिणाम ही 'अद्वैतम्' है। वही निरवच्छिन्न प्रेम है, वही निर्विकार आनन्द है। मगल कर्मों की साधना मे जब कर्मों का बन्धन क्षय हो जाता है, अहकार की तीव्रता नष्ट हो जाती है, जब अपने-पराये के सभी सम्बन्धो का विरोध दूर हो जाता है, तभी नम्रता द्वारा, क्षमा के द्वारा, करुणा

के द्वारा प्रेम का पथ प्रस्तुत हो जाता है। उस समय 'अद्वैतम्' है। तभी सब साधनाओ की सिद्धि सभी कर्मों का अवसान होता है। तब मानव-जीवन अपने प्रारम्भ से परिणाम तक परिपूर्ण हो जाता है; कही पर भी फिर असगत, असमाप्त, अर्थहीन नही रहता।

हे परमात्मन्, मानव-जीवन की सभी प्रार्थनाओ के अभ्यन्तर में एकमात्र गम्भीरतम प्रार्थना है, उसे हम बुद्धि से जानें या न जानें, उसे हम मुँह से कहे या न कहे, हमारे भ्रम के भीतर भी, हमारे दु.ख के भीतर भी, हमारी अन्तरात्मा से वह प्रार्थना सदैव ही तुम्हारी ओर मार्ग ढूँढती हुई चल रही है। वह प्रार्थना यही है कि अपने सम्पूर्ण ज्ञान के द्वारा 'शान्त' को जान सके, अपने समस्त कर्मों द्वारा 'शिव' को देख सके, अपने समस्त प्रेम के द्वारा 'अद्वैत' को उपलब्ध करें। फल लाभ की प्रत्याशा को साहस करके तुम्हे न जता सकें, परन्तु मेरी आकाक्षा केवल यही है कि समस्त विघ्न-विक्षेप-विकृत के बीच भी इस प्रार्थना को सम्पूर्ण शक्ति के साथ सत्यभाव से तुम्हारे समीप उपस्थित कर सकूँ। अन्य समस्त वासना को व्यर्थ करके, हे अन्तर्यामिन्, मेरी इसी प्रार्थना को ग्रहण करो कि मैं कभी भी ज्ञान से, कर्म से, प्रेम से यह उपलब्ध कर सकूँ कि तुम 'शान्त' 'शिवम्' 'अद्वैतम्' हो।

ॐ शान्तिः शान्ति. शान्तिः।

ततः किम्

आहार्-संग्रह और आत्म-रक्षा करके जीवित रहना सीख कर ही पशु-पक्षियो की शिक्षा सम्पूर्ण हो जाती है: वे जीव-लीला सम्पन्न करने के लिए ही प्रस्तुत होते हैं।

मनुष्य केवल जीव नही है, मनुष्य सामाजिक-जीव है। सुतरा जीवन-धारण करना एवं समाज के योग्य बनना, इन दोनो के लिए ही मनुष्य को प्रस्तुत होना पडता है।

परन्तु सामाजिक जीव कह देने से ही मनुष्य की सब बात समाप्त नही हो जाती। मनुष्य को आत्मरूप मे देख कर समाज मे उसका अन्त नही मिल पाता। जिन्होने मनुष्य को उसी भाव मे देखा है, उन्होने कहा है 'आत्मान विद्धि' आत्मा को जानो। आत्मा के उपलब्ध करने को ही उन्होने मनुष्य की चरम सिद्धि के रूप मे गणना की है। सीढी का निचला डडा सदैव ही ऊपरी डडे के अनुगत रहता है। सामाजिक जीव के पक्ष मे केवलमात्र जीव-लीला समाज-धर्म की अनुवर्ती है। भूख लगते ही खाना जीव की प्रवृत्ति है, परन्तु सामाजिक-जीव के इस आदिम प्रवृत्ति को हटा कर चलना पडता है। समाज की ओर देख कर कई-बार क्षुधा तृष्णा की उपेक्षा करने को ही हम धर्म कहते हैं। यही क्यो समाज के लिए प्राण देना अर्थात् जीव-धर्म का त्याग करना भी श्रेय के रूप मे गिना जाता है। तभी दीख पडता है, जीव-धर्म को सयत करके समाज-धर्म के अनुकूल करना ही सामाजिक-जीव की शिक्षा का प्रधान कार्य है।

परन्तु, मनुष्य के सत्य को जो लोग इसी जगह सीमाबद्ध न करके परिपूर्णभाव से उपलब्ध करने की इच्छा करते हैं, वे जीव धर्म और समाज-धर्म दोनो को ही उसी आत्म-उपलब्धि के अनुगत करने की साधना को ही शिक्षा के रूप मे जानते हैं। एक बात मे, मानवात्मा की मुक्ति ही उनके लिए मानव-जीवन का चरम-लक्ष्य है; जीवन-धारण और समाज-रक्षा के सभी लक्ष्य इसके अनुवर्ती हैं।

सभी देखा जाता है कि मनुष्य कहने से जिसने जैसे समझा है, उसने उसी के अनुसार मनुष्य के लिए शिक्षा-प्रणाली का प्रवर्तन करना चाहा है—कारण, मनुष्य बनाना ही शिक्षा है।

हम प्राचीन सहिताओ में छात्र शिक्षा के जिस आदर्श को देख पाते हैं, वह कब होता था और कितनी दूर तक देश मे चला था, उसका ऐतिहासिक विचार करने मे मैं अक्षम हूँ। अन्ततः इतना तो निस्सन्देह कहा जा सकता है कि जो लोग समाज के नियन्ता थे, उनके मन मे शिक्षा का उद्देश्य क्या था, वे मनुष्य को किस रूप मे जानते थे एव उस मनुष्य को बनाने के लिए किस उपाय को सबसे अधिक उपयुक्त के रूप मे उन्होंने सोचा था।

ससार में कुछ भी नित्य नहीं है, अतएव ससार असार है, अपवित्र है और उसका त्याग करना ही श्रेय है, इस तरह के वैराग्य धर्म की श्रेष्ठता का यूरोप मे साधुगण मध्ययुग मे प्रचार करते थे। उस समय सन्यासीदलों का यथेष्ट प्रादुर्भाव था। यूरोप के इन दिनो के भाव यही थे कि ससार को कुछ भी न समझ कर मनुष्य की प्रवृत्ति और निवृत्ति के बीच एक चिरस्थायी देवासुर-सग्राम को छेड़े रखना मनुष्यत्व को नष्ट करना है। ससार का हित-साधन करना ही ससारियो के जीवन का अन्तिम लक्ष्य है—यही धर्मनीति है। इस धर्मनीति का प्रबलभाव से आश्रय करने पर ससार को माया-छाया कह कर उड़ा देने से काम नहीं चलेगा। इस ससार क्षेत्र मे जीवन के अन्तिम क्षण तक पूरी हिम्मत

से काम करते रहना ही वीरत्व है—लगाम लगी हुई हालत मे ही मर जाना, अर्थात् काम मे विश्राम लाये बिना जीवन को समाप्त करना, अँग्रेजो के लिए गौरव का विषय माना जाता है।

'ससार अनित्य है,' इस बात को भुलाकर 'मृत्यु निश्चित है' इस बात को मन में न रखते हुए ससार के साथ चिरन्तन-सम्बन्ध स्थापित करने की चेष्टा करके यूरोपीय जाति ने एक विशेष बल प्राप्त किया है, इस विषय मे कोई सन्देह नही है। इससे विपरीत अवस्था को ये लोग morbid अर्थात् रुग्ण अवस्था कहते रहते हैं। सुतरा, इनकी शिक्षा का उद्देश्य यही है कि, छात्र इस तरह से मनुष्य बने कि जिसमे वे अन्त तक प्राणपण की शक्ति से ससार के कर्मक्षेत्र मे लडाई कर सके। जीवन को ये लोग सग्राम के रूप मे समझते हैं, विज्ञान भी इन लोगो को यही शिक्षा देता है कि जीविका की लडाई मे जो लोग जीतते हैं, वे ही पृथ्वी पर टिके रहते हैं। एक ओर 'चाहिए ही चाहिए, बिना मिलेकाम नहीं चलेगा' मन के इस गृध्नुभाव को खूब सतेज रखने के लिए इनकी चेष्टा है, दूसरी ओर मुट्ठी को भी ये लोग खूब मजबूत किये रहते हैं। सब ओर से बाँध कर, भली भाँति कस कर, दस अँगुलियो से ये लोग दाब कर रखना भी जानते हैं। पृथ्वी को किसी भी अश मे और किसी भी तरह से नहीं छोडेंगे, इसी बात को बलपूर्वक कहते कहते मिट्टी को खोदते हुए मर जाना इनके लिए वीर की मृत्यु है। सबको जानूँगा सबको निकालूँगा, सब को रक्खूँगा, इस प्रतिज्ञा की सार्थकता का साधन करने की शिक्षा ही इन लोगो की शिक्षा है।

हम लोग कहते आ रहे है—

'गृहीत इव केशेषु मृत्युना धर्ममाचरेत्।'

'मृत्यु केशो को पकडे हुए है, यह सोचकर धर्माचरण करो।'

यूरोप के सन्यासियो ने भी यह बात नही कही हो, ऐसा नहीं एव ससारी व्यक्ति को भय दिखाने के लिए मृत्यु की विभीषिका

की उन्होंने साहित्य मे, चित्र मे एव अनेक स्थानों पर प्रत्यक्ष करने की चेष्टा की है। परन्तु, हमारी प्राचीन संहिताओं मे जो भाव दिखाई पडता है, उसका एक विशेषत्व है।

ससार के साथ हमारे सबंधो का अन्त नही है, यह सोच कर काम करने से काम अच्छा होता है या बुरा होता है, यह बाद की बात है— परन्तु इसमे सन्देह नही है कि यह बात मिथ्या है। ससार मे हमारे सभी सम्बन्धो का अवसान है, इतनी बडी सत्य बात और कोई नहीं है। प्रयोजन की खातिर गाली देकर, सत्य को मिथ्या कह कर चलाने पर भी वह बराबर अपना काम करता जाता है; सोने के राजदण्ड को ही जो राजा चरम के रूप में जानता है उसके हाथ से भी चरम मे वह राजदण्ड धूलि मे जा गिरता है; लोकालय मे प्रतिष्ठा प्राप्त करने को ही जो व्यक्ति एकमात्र लक्ष्य के रूप मे जानता है, सम्पूर्ण जीवन की समस्त चेष्टाओं की समाप्ति पेर उसे उसी लोकालय को अकेले छोड़कर चला जाना पडता है। बडी-बडी कीर्तियाँ लुप्त हो जाती हैं। एव बडी-बडी जातियों को भी, उन्नति के नाट्य मच से दीपक बुझाकर रङ्गलीला समाप्त कर देनी पडती है। यह सब अत्यन्त पुरानी बातें हैं, फिर भी ये तनिक भी मिथ्या नहीं हैं।

सभी सम्बन्धों का अवसान होता है, परन्तु इसी कारण अवसान होने से पहले ही उन्हें अस्वीकार करने से भी काम नही चलता। अवसान के बाद जो असत्य है, अवसान से पूर्व तो वही सत्य है। जो जिस परिमाण मे सत्य है, उसे उसी परिमाण मे यदि न मानें, तो चाहे वह हमें कान पकड कर न मनवाये, फिर भी किसी दिन किसी ओर से सूद सहित अपना ऋण चुका लेगा।

वास्तविक होती है, तभी विद्यालय से निकलना उसके पक्ष मे सम्पूर्ण होता है। यदि वह जबर्दस्ती विद्यालय से छुटकारा ले ले, तो चिर दिनो तक असम्पूर्ण विद्या का फल उसे भोगना पडता है। 'पथ गम्य स्थान नहीं है?' यह बात ठीक है, पथ की समाप्ति ही हमारा लक्ष्य है, परन्तु पहले पथ का भोग किये बिना (मार्ग पर चले बिना) उसकी समाप्ति ही असम्भव हो जायगी।

तभी देखा जाता है, ससार के सबधो को हम ध्वस्त नही कर सकते, उनके भीतर पहुँच कर उनसे उत्तीर्ण हो सकते हैं। अर्थात् सभी सबध जहाँ आकर मिले हैं, उस जगह पहुँच सकते हैं। अतएव, ठीक भाव से यह भीतर जा पहुचना ही साधना है—'कोई सबध नही है' कह कर विमुख हो जाना साधना नही है। पथ को यदि वैराग्य के जोर से छोड दोगे, तो अपथ पर सातगुना अधिक घूमकर मरना पडेगा।

जर्मन महाकवि गेटे ने अपने 'फाउस्ट' नाटक मे दिखाया है, जो व्यक्ति मानव प्रवृत्ति को उपवासी रख कर ससार की लीलाभूमि से ऊपर अकेला बैठकर ज्ञान सग्रह करने में प्रवृत्त था, ससार की धूलि में ऊपर बडी जोर से पछाड खाकर उसे किस तरह से कठोर ज्ञान प्राप्त करना पडा था। मुक्ति के प्रति असमय मे अयथा लोभ करके जितना धोखा देते जायँगे, उतना तो चुकाना ही पडेगा, उसके ऊपर फिर धोखा देने की चेष्टा के लिए दण्ड है। अधिक-शीघ्रता करते ही अधिक विलम्ब लग जाता है।

वस्तुत ग्रहण एव वर्जन, बन्धन और वैराग्य, यह दोनो ही समान सत्य हैं—एक के भीतर ही दूसरे का निवास है, कोई भी किसी को छोडकर सत्य नही है। दोनो को यथार्थ रूप मे मिला पाने पर ही पूर्णता प्राप्त की जा सकती है। शकर त्याग की और अन्नपूर्णा भोग की मूर्ति हैं, दोनों मिलकर जब एकाग्र हो जाते हैं, तभी सम्पूर्णता का आनन्द है। हमारे जीवन म जहा पर भी इन शिव और शिवानी का

विच्छेद है, जहाँ पर भी बन्धन और मुक्ति की एकत्र प्रतिष्ठा नही है, जहाँ पर भी अनुराग और विराग में विरोध हो गया है, वही पर सारी अशान्ति है, सब कुछ निरानन्द है। उसी जगह हम लेना चाहते हैं, देना नही चाहते; उसी जगह हम अपनी ओर खींचते हैं, दूसरी ओर नही देखते, उसी जगह हम जिसका भोग करते हैं, उसका फिर अन्त नही देख पाते, अन्त देखने पर विधाता को धिक्कार देकर हाहाकार करते रहते; वही पर धर्म मे हमारी प्रतियोगिता है, धर्म से भी हमारा विद्वेष है; उसी जगह कोई- कुछ भी जैसे स्वाभाविक परिणाम नहीं है, अपघात मृत्यु से ही सभी मामलों का अकस्मात् विलोप हो जाता है।

जीवन को चाहे युद्ध के रूप मे ही गिना गया हो। इस युद्ध-व्यापार मे यदि केवल व्यूह के भीतर प्रवेश करने की विद्या ही हमने सीखी हो, व्यूह से बाहर निकलने का कौशल हम न जानते हो, तो सप्तरथी घेर कर हमे मार डालेंगे। उस तरह से मरना भी हमे वीरत्व प्रतीत हो सकता है, परन्तु युद्ध मे विजय प्राप्त करना तो उसे नही कहा जायगा। दूसरी ओर, जो लोग व्यूह के भीतर एक दम प्रवेश करने से ही विरत् हैं, उन कापुरुषो के वीरों की सद्गति नही है। प्रवेश करना एव बाहर निकलना, इन दोनो के द्वारा ही जीवन की चरितार्थता है।

प्राचीन संहिताकारो ने हिन्दू-समाज मे हर-गौरी को अभेदाङ्ग करना चाहा था—विश्व-चराचर के जो ग्रहण और वर्जन, जो आकर्षण और विप्रकर्षण, जो केन्द्रानुग और केन्द्रातिग, जो स्त्री और पुरुष भावो के नियत-सामंजस्य के प्रतिष्ठा प्राप्त करके सत्य और सुन्दर हो उठे थे, समाज को उन्होंने आरम्भ से अन्त तक सभी ओर से उसी बृहत् सामजस्य के ऊपर स्थापित करने की चेष्टा की है। शिव और शक्ति का, निवृत्ति और प्रवृत्ति का सम्मिलन ही समाज का एक मात्र मङ्गल है, एव शिव और शक्ति का विरोध ही समाज के समस्त अमङ्गल का कारण है, यही उन्होंने समझा था।

इस सामजस्य का आश्रय लेते समय पहले मनुष्य को सत्यभाव में देखना होगा। अर्थात् उसे किसी एक विशेष प्रयोजन की ओर से देखने पर नहीं चलेगा। हम यदि आपको खटाई खाने की ओर से देखेंगे, तो उसे समग्रभाव से नहीं देखेंगे, इसलिए उसके स्वाभाविक परिणाम मे बाधा पहुँचेगी, उसे कच्चा तोडकर लाने से उसकी गुठली को मिट्टी कर देंगे। वृक्ष को यदि जलाने की लकडी कह कर देखेंगे, तो उसके फल, फूल, पत्तो के किसी तात्पर्य को ही नही देख पायेंगे। इसी तरह मनुष्य को यदि राज्य रक्षा का उपाय समझेंगे तो उसे सैनिक बना देंगे, उसे यदि जातीय समृद्धि की वृद्धि के हेतु रूप में गिनेंगे तो उसे वणिक बना देने की एकान्त चेष्टा करेंगे—इस तरह से अपने आवह्यान सस्कार के अनुसार जिसे भी हम पृथ्वी पर सबकी अपेक्षा अधिक अभिलषित के रूप मे जानेंगे। मनुष्य को उसी के उपकरणमात्र के रूप मे ही देखेंगे और उस प्रयोजन साधन को ही मनुष्य की सार्थकता के रूप मे अनुभव करेंगे। ऐसा करके देखने मे कोई हित न होता हो, ऐसी बात नही है परन्तु सामजस्य नष्ट होकर अन्त समय मे आहत आ पडता है—एव जिसे तारा समझ कर आकाश मे उडाते है, वे कुछ देर तक ठीक तारा की भांति ही भड्डी करता है, उसके बाद बुझकर, राख बन कर, जमीन पर गिर जाता है।

हमारे देश मे कभी मनुष्य को सभी प्रयोजनो की अपेक्षा किस तरह से बडा करके देखा गया था, उसे सर्वसाधारण मे प्रचलित चाणक्य के एक श्लोक मे देखा जा सकता है—

'त्यजेदेक कुलस्यार्थे ग्रामस्यार्थे कुल त्यजेत्।
ग्राम जनपदस्यार्थे आत्मार्थे पृथिवी त्यजेत्॥'

मनुष्य की आत्मा कुल की अपेक्षा, ग्राम की अपेक्षा, देश की अपेक्षा, समस्त पृथ्वी की अपेक्षा बडी है। अन्तत. किसी की तुलना मे छोटी नही है। पहले मनुष्य की आत्मा को इस तरह से सभी दैशिक

और क्षणिक प्रयोजनो से पृथक् करके उसे विशुद्ध और वृहत् करके देखना होगा, तभी ससार के सभी प्रयोजनो के साथ उसके सच्चे सबध, जीवन के क्षेत्र मे उसके यथार्थ स्थान का निर्णय करना सम्भव हो सकेगा।

हमारे देश मे यही किया गया था। शास्त्रकारों ने मनुष्य की आत्मा को अत्यन्त बडे रूप मे देखा था। मनुष्य की मर्यादा की कहीं सीमा नहीं थी, ब्रह्म के भीतर ही उसकी समाप्ति थी। अन्य जिस रूप मे भी मनुष्य को अन्त तक देखा जायगा, वह उसे मिथ्या रूप मे देखना ही होगा। उसे Citizen के रूप मे देखो, परन्तु कहां है City और कहां है वह, City मे उसकी पर्याप्ति नही है, उसे Patriot के रूप मे देखो, परन्तु देश मे ही उसका अन्त नही पाया जाता, देश तो जलविम्ब है, सम्पूर्ण पृथ्वी फिर क्या होगी।

भर्तृहरि, जो किसी समय मे राजा थे, उन्होंने कहा है—

> 'प्राप्ताः श्रियः सकलकाम दुघास्ततः किं
> न्यस्त पद शिरसि विद्विषतां ततः किम्।
> सम्पादिताः प्रणयिनो विभवैस्ततः किं
> कल्पस्थितास्तनुभृता तनवस्ततः किम्॥'

'सकल काम्य फलप्रद लक्ष्मी का भी चाहे लाभ कर लिया जाय तो उससे भी क्या है, शत्रुओं के मस्तक के ऊपर चाहे पाँव रख लिया, उसमे भी क्या है; चाहे वैभव के बल पर बहुत से सुहृद इकट्ठे कर लिये जाँय, उससे भी क्या है, शरीरधारियों के शरीरों को चाहे कल्प भर के लिए बचाकर रख लिया तो उससे भी क्या है।'

के पथ पर सचालित करने का उपाय किया जा सकता है। परन्तु मनुष्य को यदि सासारिक जीव के रूप मे ही माना जाय, तो उसे संसार के प्रयोजनो के भीतर ही आबद्ध करके छोटा करके, काट-छाँट लिया जायगा।

हमारे देश के प्राचीन मनीषियो ने मनुष्य की आत्मा को बडे रूप मे देखा था, इसीलिए उनकी जीवन-यात्रा का आदर्श यूरोप के साथ स्वतन्त्र (भिन्न) हो गया है—उन्होंने जीवन के अन्तिम क्षण तक खटन-मरने को गौरव का विषय नहीं माना है, कर्म को ही उन्होंने अतिम लक्ष्य न मानकर, कर्म के द्वारा कर्म के क्षय करने को ही चरम-साधना के विषय के रूप मे जाना है। आत्मा की मुक्ति ही प्रत्येक मनुष्य का एक मात्र श्रेय है, इस बारे मे उन्हें सन्देह नही था।

यूरोप की स्वाधीनता का गौरव प्रत्येक समय मे गाया गया है। इस स्वाधीनता का अर्थ आहरण करने की स्वाधीनता, भोग करने की स्वाधीनता, काम करने की स्वाधीनता है। यह स्वाधीनता बहुत कम वस्तु नहीं है—इस ससार मे इसकी रक्षा करने के लिए बहुत शक्ति एव आयोजनो की आवश्यकता पड़ती है। परन्तु प्राचीन भारत-वर्ष ने इसके प्रति भी अवज्ञा करते हुए कहा था—'ततः किम्।' इस स्वाधीनता को उसने स्वाधीनता कहकर स्वीकार नही किया। भारत-वर्ष ने कामना के ऊपर, कर्म के ऊपर भी स्वाधीन होना चाहा था।

परन्तु 'स्वाधीन होगया' यह सोचकर ही तो स्वाधीन नहीं हुआ जा सकता। नियम अर्थात् अधीनता के भीतर पहुँचे बिना स्वाधीन नही हुआ जाता।.राष्ट्रीय स्वाधीनता को यदि बडा समझा जाय तो सैनिक के रूप में अधीन होना पडेगा, वणिक् रूप मे अधीन होना पडेगा। इग्लैण्ड मे जो कितने ही लाख सैनिक हैं, वे क्या स्वाधीन हैं? मनुष्यत्व को उन्होने मनुष्य-सहारक यन्त्रो मे परिणत कर दिया है, वे सजीव बन्दूक मात्र हैं। कितने लाख मजदूर खान के अन्धे रसातल मे,

कारखाने के अग्निकुण्ड मे रहकर इग्लैंण्ड की राज्यश्री के पदतल में छाती का रक्त देकर महावर लगा रहे हैं। क्या वे स्वाधीन हैं? वे तो निर्जीव यन्त्र के सजीव अंग-प्रत्यंग हैं। यूरोप मे स्वाधीनता का फल भोग कितने व्यक्ति करते हैं? तो स्वाधीनता किसे कहते हैं? individualism अर्थात् व्यक्ति स्वातन्त्र्य यूरोप की साधना का विषय हो सकता है, परन्तु व्यक्ति की परतन्त्रता इतनी अधिक क्या अन्यत्र दिखाई देती है?

इसके उत्तर मे एक स्वतोविरोधी बात कहनी पड़ेगी। परतन्त्रता के भीतर से ही स्वतन्त्रता में जाने का मार्ग है। वाणिज्य मे तुम जितने अधिक मुनाफे के रुपये लाना चाहते हो उतने ही अधिक मूलधन के रुपये डालने पड़ेंगे। रुपये तनिक भी मेहनत नहीं करते, केवल लाभ ही कमाते हैं, यह नहीं होता। स्वतन्त्रता उसी तरह ब्याज की भाँति है, विपुल परतन्त्रता के परिश्रम करने पर ही उसे लाभ होता है—आदि से अन्त तक सभी मे लाभ, आदि से अन्त तक सभी मे स्वाधीनता, यह कभी सम्भव नहीं है।

हमारे देश मे भी साधना का विषय था individualism, व्यक्ति स्वातन्त्र्य। परन्तु, यह कोई छोटी-मोटी स्वतन्त्रता नहीं थी। उस स्वतन्त्रता का आदर्श एकदम मुक्ति मे जाकर ठहरा था। भारतवर्ष ने प्रत्येक व्यक्ति को जीवन के प्रतिदिन के भीतर से, समाज के प्रत्येक सम्बन्ध के भीतर से, उसी मुक्ति का अधिकार दिलाने की चेष्टा की थी। यूरोप मे जिस तरह कठोर परतन्त्रता के भीतर से स्वतन्त्रता ने विकास पाया है, हमारे देश मे भी उसी तरह नियम-सयम के निविड बन्धनो के भीतर से मुक्ति का उपाय निर्दिष्ट हुआ है। उस मुक्ति के परिणाम को लक्ष्य से हटाकर, यदि केवल नियम-सयम को ही अकेला करके देखा जाय, तो कहना पड़ेगा, हमारे देश मे व्यक्ति स्वातन्त्र्य की खर्वता बहुत अधिक है।

असल बात यह है, किसी देश के जब दुर्गति के दिन आते हैं, तब वह मुख्य वस्तु को खो देता है, अथच गौण वस्तुएँ जजाल के रूप में जगह घेर कर बैठ जाती हैं। उस समय पक्षी उड़ कर भाग जाता है, पिंजड़ा पड़ा रहता है। हमारे देश में भी यही हुआ है। हम लोग अभी तक अनेक प्रकार के बन्धनों को मान कर चलते हैं, अथच उनके परिणाम की ओर लक्ष्य नही है। मुक्ति की साधना हमारे मन के भीतर है, हमारी इच्छा के भीतर नही है, अथच उसके बन्धनों को हम आपाद मस्तक वहन करते हुए फिर रहे हैं। इसमे हमारे देश का जो मुक्ति का आदर्श है, वह तो नष्ट हो ही रहा है, यूरोप का जो स्वाधीनता का आदर्श है, उसके मार्ग मे भी पग पग पर बाधा पड़ रही है। सात्विकता की जो पूर्णता है, उसे भूल गये हैं, राजसिकता का जो ऐश्वर्य है, यह भी दुर्लभ हो गया है, केवल तामसिकता का जो अस्थावर बोझ है, उसी को वहन करके स्वय को अकर्मण्य बनाये जा रहे हैं। अतएव वर्तमान समय मे हमारी ओर देखकर यदि कोई कहे कि भारतवर्ष का समाज मनुष्य को केवल आचार-विचार मे चारों ओर से बाँध देने का ही रस्सा है, तो मन मे नाराजी आ सकती है परन्तु उत्तर दे पाना कठिन है। पोखर जब सूख गई हो, तब उसे यदि कोई गड्ढा कहे तो वह हमारी पैतृक सम्पत्ति होन पर भी, चुप रह जाना पड़ेगा। असल बात यह है, सरोवर की पूर्णता किसी समय कितनी ही सुगंभीर रही हो सूखी हालत मे उसकी रिक्तता का गड्ढा उतना ही प्रकाण्ड बना रहता है।

भारतवर्ष मे भी मुक्ति का लक्ष्य किसी समय कितना सचेष्ट था, उसे आजके युग मे निरर्थक सीमा बाँधी, अनावश्यक आचार-विचार के द्वारा ही समझा जा सकता है। यूरोप मे भी कालक्रम मे जब शक्ति का ह्रास होगा, तब बन्धन के असह्य भार के द्वारा ही उसकी पूर्वतन स्वाधीनता चेष्टा को नापा जायगा। अभी भी क्या भार

अनुभव करके यह असहिष्णु नहीं हो उठता है ? अभी भी क्या उसका उपाय क्रमशः उद्देश्य को छोड जाने की चेष्टा नहीं कर रहा है ?

परन्तु यह तर्क रहने दिया जाय, असल बात यह है कि यदि लक्ष्य सजग रहे तो नियम-सयम का बन्धन ही मुक्ति का एकमात्र उपाय है। भारतवर्ष ने एकदिन नियमो के द्वारा समाज को खूब कस कर बाँधा था, मनुष्य समाज के भीतर से समाज को छोड जायगा यही सोचकर बाँधा था। घोडा को उसका सवार लगाम लगाकर क्यों बाँधता है और स्वय भी उसके साथ रकाबो के द्वारा क्यो बँध जाता है—दौडना होगा—इसीलिए, दूर के लक्ष्य स्थान पर जाना होगा—इसीलिए। भारतवर्ष जानता था, समाज मनुष्य का अन्तिम लक्ष्य नहीं है। मनुष्य का चिर-अवलम्बन नहीं है—समाज मनुष्य को मुक्ति के मार्ग पर अग्रसर कर देने के लिए बना है। ससार के बन्धनो को भारतवर्ष मे कुछ अधिक रूप मे ही स्वीकार किया था, उसके हाथ से अधिक रूप में छुटकारा पाने के अभिप्राय से ही।

इस तरह के बन्धन और मुक्ति, उपाय और उद्देश्य, दोनो को ही मान्य करने की बात प्राचीन उपनिषदो में भी देखी जाती है। ईशोपनिषद् कहता है—

'अन्ध तम प्रविशन्ति ये अविद्यामुपासते।
ततो भूय इव ते तमो य उ विद्याया रताः।'

'जो लोग केवल मात्र अविद्या अर्थात् ससार की उपासना करते हैं, वे अन्ध तामस के भीतर प्रवेश करते हैं, तदपेक्षा भी भूय अन्धकार के भीतर वे लोग प्रवेश करते हैं, जो केवल ब्रह्म विद्या मे निरत हैं।'

'विद्यान्चा विद्यान्च यस्तद्वेदोभय सह।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते।'

'विद्या और अविद्या दोनो को ही जो एक जैसा जानते हैं, वे

अविद्या द्वारा मृत्यु से उत्तीर्ण होकर, विद्या द्वारा अमृत को प्राप्त हो।'

मृत्यु से पहले उत्तीर्ण होना पडेगा, उसके बाद अमृत-लाभ है। ससार के भीतर जाकर इस मृत्यु से उत्तीर्ण होना पडेगा। कर्म के भीतर प्रवृत्ति कोयथार्थभाव से नियुक्त करके पहले उस प्रवृत्ति को और कर्म को क्षय कर डालो, उसके बाद ब्रह्म-लाभ की बात है, ससार को बलपूर्वक अस्वीकार करके कोई अमृत का अधिकार प्राप्त नही कर सकेगा।

'कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेत् शत समाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे॥'

'कर्म करते हुए सौ वर्ष तक इस लोक मे जीवित रहने की इच्छा करो, हे नर, तुम्हारे लिए इसके अतिरिक्त और कुछ नही है; कर्म मे लिप्त न होओ, ऐसा कोई मार्ग नही है।'

मनुष्य को पूर्णता लाभ करने के लिए परिपूर्ण जीवन एव सम्पूर्ण कर्म की आवश्यकता पडती है। जीवन के सम्पूर्ण होते ही जीवन का प्रयोजन समाप्त हो जाता है, कर्म समाप्त होते ही कर्म का बन्धन शिथिल हो जाता है।

जीवन को और जीवन के अवसान को, कर्म को और कर्म की समाप्ति को इस तरह अत्यन्त सहजभाव से ग्रहण करने पर जो बात याद रखनी होगी वह ईशोपनिषद् के प्रथम श्लोक मे ही कही गई है—

'ईशा वास्यमिद सर्वं यत् किञ्च जगत्यां जगत्।'

'ईश्वर के द्वारा इस जगत् के सब कुछ को आच्छन्न जानना।'

एवम्—

'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम्।'

'वे जो त्याग कर रहे हैं, वे जो दे रहे हैं, उसी को भोग करना, अन्य किसी के धन पर लोभ मत करना।'

ससार को यदि ब्रह्म के द्वारा आच्छन्न समझ सकें तो फिर ससार

या विप घट जाता है, उसकी सकीर्णता दूर होकर, उसका बन्धन हमें बाँधकर नही रख पाता। एव ससार के भोग को ईश्वर का दान कह कर ग्रहण करने से छीना झपटी, मारा मारी रुक जाती है।

इस तरह ससार को, समार के सुख को, कर्म को और जीवन को ब्रह्म की उपलब्धि के साथ मिलाकर खूब बड़े रूप मे जानना ही समाज रचना की, जीवन निर्वाह की पहली बात है। भारतवर्ष ने इस भूमा के स्वर में ही समाज को बाँधने की चेष्टा की थी। समाज को बाँधकर मनुष्य की आत्मा को मुक्ति देने की चेष्टा की थी। शरीर को अपवित्र कहकर पीड़ा नही देनी चाही, समाज को कलुषित कहकर परिहार नही करना चाहा, जीवन को अनित्य कहकर अवज्ञा नही करनी चाहिए—उसने सभी को ब्रह्म के द्वारा अखण्ड परिपूर्ण करना चाहा था।

यूरोप में मनुष्य के जीवन के दो हिस्से देखे जाते हैं। एक सीखने की अवस्था, उसके बाद ससार के काम करने की अवस्था। यहीं पर समाप्ति है।

परन्तु, 'काम' नामक वस्तु को तो कोई किसी का अन्त नहीं कहा जा सकता। लाभ ही अन्तिम है। शक्ति को केवल काम मे लगाये रखना ही तो शक्ति का परिणाम नही है, सिद्धि पर पहुचना ही परिणाम है। अग्नि से केवल ईंधन जलाना ही तो लक्ष्य नही है, राँधने मे ही उसकी सार्थकता है। परन्तु यूरोप मनुष्य को ऐसे किसी स्थान पर लक्ष्य स्थापित नही करने देता, जहाँ पर काम अपने स्वाभाविक परिमाण मे आकर, साँस लेकर बच सके। रुपया सग्रह करना चाहते हो, सग्रह की तो समाप्ति ही नही है, ससार की खबरें जानना चाहते हो, जानने का तो अन्त ही नही है, सभ्यता को Progress कहते रहो, प्रोग्रेस शब्द के अर्थ मे ही यही है कि केवल राह पर चलना, कहीं भी घर मे न पहुँचना। इसीलिए जीवन को अक्षेप के बीच हठात्

शेप करना, न रुकने के बीच हठात् रुक जाना यूरोप की जीवन यात्रा है। Not the game but the chase—शिकार पाना नहीं, शिकार के पीछे दौड़ना ही यूरोप के लिए आनन्द के सारभाग के रूप में गिना जाता है।

जिसे हाथ में पाया जा सकता है, उससे सुख नही मिलता, यह बात क्या हमने भी नही कही है ? हम भी कहते हैं—

'निस्वो वष्टि शत शती दशशत लक्ष सहस्राधिपो
लक्षेश: क्षितिपालता क्षितिपतिश्चक्रेश्वरत्व पुनः।
चक्रेश. पुनरिन्द्रता सुरपति र्ब्राह्म पद वान्छति
ब्रह्मा विष्णुपद हरि. शिवपद स्वाशावधि को गतः॥'

इस बात में जो जिसे पा लेता है, उससे उसकी आशा नहीं मिटती; कितना ही अधिक क्यों न पाया जाय, उससे भी अधिक पाने की ओर मन दौड़ता है। तब फिर काम का अन्त किस तरह होगा। पाने से जब चाहने की समाप्ति नहीं है, तब असम्पूर्ण आशा के बीच असमाप्त कर्म को लेकर मरना ही मनुष्य की एकमात्र गति प्रतीत होती है।

यहाँ भारतवर्ष ने कहा है, और सब 'पाने' के तो यही लक्षण हैं, परन्तु एक स्थान पर 'पाने' की समाप्ति है। उसी जगह यदि लक्ष्य स्थापन किया जाय, तभी काम की समाप्ति होगी, हम छुट्टी पायेंगे। कहीं भी 'चाहने' का अन्त नहीं है, ससार एक इतना बड़ा धोखा, जीवन एक इतना बड़ा पागलपन हो ही नहीं सकता। मनुष्य के जीवन-सङ्गीत में केवल अविश्राम तान ही है और किसी भी जगह 'सम' नहीं है, यह बात हम नहीं मानते। यह बात अवश्य कहनी पड़ेगी कि तान कितनी ही मनोहर हो, उसके बीच गीत के अकस्मात् समाप्त हो जाने पर रस-बोध में आघात लगता है; 'सम' पर आकर समाप्त होने से सम्पूर्ण तान की लीला निविड़ आनन्द के बीच परिसमाप्त होती है।

भारतवर्ष ने इसीलिए काम के बीच से मृत्यु के द्वारा जीवन के हठात् विच्छिन्न हो जाने का उपदेश नही दिया। पूरीदम रहते हुए भी सास को तोड कर अतल मे तला जाने के लिए नही कहा, उसे स्टेशन पर लाकर पहुंचा देना चाहा था। ससार किसी दिन समाप्त नहीं होगा, यह बात ठीक है; जीव-सृष्टि के आरम्भ से आज तक उन्नति-अवनति की लहर-क्रीडा के बीच मे होकर ससार चला आ रहा है, उसका विराम नहीं है परन्तु, प्रत्येक मनुष्य की ससार-लीला का जब अन्त है, तब मनुष्य यदि एक सम्पूर्णता की उपलब्धि को जाने बिना ही प्रस्थान करे, तो उसका क्या हो सका।

बाहर किसी का अन्त नहीं है, केवल एक मे से दूसरा बढता ही चला जाता है। इस चिर-चलमान बहि-ससार के झूले मे झूल कर हम बडे हुए हैं—हमारे पक्ष मे एक दिन उस झूले का काम समाप्त हो जाने पर भी, किसी दिन एकदम उसका काम समाप्त नही हो जायगा। यह बात सोच कर, हमसे जितना हो सके, इस प्रवाह के पथ को आगे की ओर ठेल देना होगा। इसके ज्ञान के भाण्डार मे अपनी सामर्थ्य के अनुसार ज्ञान, इसके कर्म के चक्र मे अपनी सामर्थ्य के अनुसार वेग—सचारित कर देना होगा। परन्तु, इसी कारण बाहर के इस अशेष के बीच स्वय को पूर्णत. डुबा देने से नष्ट हो जाना पडेगा। हृदय के भीतर एक समाधान का मार्ग है। बाहर-उपकरणो का अन्त नही है, परन्तु हृदय मे सन्तोष है; बाहर दुख-वेदना का अन्त नही है, परन्तु हृदय मे धैर्य है; बाहर प्रतिकूलता का अन्त नही है, परन्तु हृदय मे क्षमता है; बाहर लोगों के साथ सम्बन्धभाव का अन्त नहीं है, परन्तु हृदय मे प्रेम है; बाहर ससार का अन्त नही है, परन्तु आत्मा मे आत्मा सम्पूर्ण है। एक ओर के अशेष के द्वारा ही दूसरी ओर की अखण्डता की उपलब्धि परिपूर्ण होती है। गति के द्वारा ही स्थिति को पाया जा सकता है।

इसीलिए भारतवर्ष ने मनुष्य के जीवन को जिस रूप मे विभक्त किया है, कर्म उसके बीच मे है और मुक्ति उसके अन्त में है।

दिन जिस प्रकार चार स्वाभाविक अंशो में विभक्त है—पूर्वाह्न, मध्याह्न, अपराह्न और सायाह्न, भारतवर्ष ने जीवन को उसी तरह चार आश्रमों मे विभाजित किया है। ये विभाग स्वभाव को अनुसरण करके ही बने हैं। आलोक और उत्ताप की क्रमशः वृद्धि एव क्रमशः ह्रास जिस तरह दिन का है, उसी तरह मनुष्य की इन्द्रियों की शक्ति की भी क्रमशः उन्नति और क्रमशः अवनति है। उसी स्वाभाविक क्रम का अवलम्बन करके भारतवर्ष जीवन के आरम्भ से जीवनान्त पर्यन्त एक अखण्ड तात्पर्य को वहन करता चला गया है। पहले मे शिक्षा, उसके बाद ससार, उसके बाद बन्धनों को शिथिल करना, उसके बाद मुक्ति और मृत्यु के बीच प्रवेश—ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य, वानप्रस्थ और प्रव्रज्या।

आधुनिक काल मे हम लोग जीवन के साथ मृत्यु का एक विरोध अनुभव करते हैं। मृत्यु जो जीवन का परिणाम है उसे नही, मृत्यु जैसे जीवन की शत्रु है। जीवन के प्रत्येक पर्व मे हम अक्षयभाव से मृत्यु के साथ झगडते हुए चलते रहते हैं। यौवन के चले जाने पर भी हम यौवन को खींच-तान करके रखना चाहते हैं। भोग की अग्नि के बुझ आने पर भी हम अनेक प्रकार के काठकबाड इकट्ठे करके उसे जगाये रखना चाहते हैं। इन्द्रिय शक्ति का ह्रास हो आने पर भी हम प्राणपण से काम करने की चेष्टा करते हैं। मुट्ठी जब स्वभावतः ही शिथिल हो आती है, तब भी हम किसी तरह भी कही-कोई दखल छोडना नही चाहते। प्रभात और मध्याग्ह के अतिरिक्त अपने जीवन के अन्य किसी अंश को हम किसी प्रकार भी स्वीकार नही करना चाहते। अन्त मे जब हमसे अधिक प्रबलता शक्ति कान पकड कर स्वीकार करने को बाध्य कराती है, तब

शायद विद्रोह अथवा विषाद उपस्थित होता है, उस समय हमारा वह पराभव केवल अङ्गभङ्ग रूप मे ही परिणत होता है, उसे किसी काम मे लगा ही नही पाते हैं। जो परिणाम निश्चित परिणाम है, उन्हें सहज मे स्वीकार करने की शिक्षा न पाने के कारण किसी को भी स्वय ही नही छोड देते, सबको अपने पास से निकल जाने देते हैं। सत्य को अस्वीकार करने के कारण पग-पग पर सत्य के समीप परास्त होते रहते हैं।

कच्चा आम सम्न डठल लेकर डाल को खूब जोर से आकर्षित करता है, अपने अपरिणत के शरीर मे अपने अपरिणत गूदे को कसे रखता है। परन्तु प्रतिदिन वह जितना पकता जाता है, उतने ही परिमाण मे उसका डठल ढीला होता जाता है, उसका गुच्छा गूदे से अलग है सम्पूर्ण फल-वृक्ष से पृथक् हो जाता है। फल एक दिन वृक्ष के बन्धन से पूर्णतः स्वतन्त्र हो जायगा, यही उसकी सफलता है, वृक्ष को चिरकाल तक कस कर पकड़े रहने से ही वह व्यर्थ है। फल की भांति हमारी इन्द्रिय-शक्ति भी एक दिन ससार की डाली से सम्पूर्ण रस को खीचकर अन्त मे इस डाली को त्याग कर धुलिसात् हो जाती है। यह ससार के नियमानुसार ही होता है, इसके ऊपर हमारा हाथ नही है। परन्तु भीतर जहाँ हमारा स्वाधीन मनुष्यत्व है, जहाँ हमारी इच्छा शक्ति की लीला है, वहाँ परिणति के पक्ष मे इच्छा शक्ति ही एक प्रधान शक्ति है। ऐंजिन के ब्वायलर के शरीर मे जो तापमान का यन्त्र है, उसका पारा स्वभाव के नियम से ही चढता अथवा गिरता है, परन्तु भीतर की आँच को इस सकेत से समझ कर बढाये या घटाये यह बात इंजीनियर की इच्छा के ऊपर ही निर्भर करती है। अपनी इन्द्रिय-शक्ति की घटा बढी के साथ-साथ अपनी प्रवृत्ति की उत्तेजना और कर्म के उत्साह को बढाये या कम करें, यह हमारे हाथ मे है। उस यथा समय बढाने-घटाने के द्वारा ही हम सफलता प्राप्त करते हैं।

पके हुए फल मे एक ओर डंठल दुर्बल और गूदा अलग होता रहताहै, उसी तरह दूसरी ओर उसकी गुठली सख्त होकर नवीन प्राणो का सम्बल लाभ करती रहती है। हमारे भीतर भी वही हरण-पूरण है। हमारे भी बाहरी ह्रास के साथ भीतरी वृद्धि का योग है। परन्तु, भीतर के काम मे मनुष्य की स्वयं की इच्छा बलवान होने से ही यह वृद्धि होती है, यह परिणति हमारी साधना की अपेक्षा रखती है। इसीलिए देखते हैं, दाँत गिर पडे, केश पक गए, शरीर का तेज कम हो गया, मनुष्य अपनी आयु के अन्तिम किनारे पर आकर खडा हो गया, फिर भी उसने किसी तरह भी सरलता से ससार से अपने डठल को अलग नहीं होने दिया—प्राणपण से सब को जकडे रहा, यही क्यो मृत्यु के बाद भी ससार के क्षुद्र विषयों मे भी उसकी इच्छा ही बलवान रहेगी, इसे लेकर जीवन के अन्तिम क्षण तक चिन्ता करता रहा। *आधुनिककाल इसे गर्व का विषय मानता है, परन्तु यह गौरव का* विषय नही है।

त्याग करना ही होगा और त्याग के द्वारा ही हम लाभ करेंगे। यह ससार का मर्मगत सत्य है। फूल को पंखुडियाँ ही गिरानी ही होगी, तभी फल आयेगा; फल को झर जाना ही पडेगा, तभी वृक्ष होगा। गर्भ के शिशु को गर्भाशय छोडकर पृथ्वी पर भूमिष्ठ होना ही पडेगा। भूमिष्ठ होकर शरीर से, मन से, वह अपने ही भीतर बढता रहेगा, तब उसका और कोई कर्तव्य नही रहेगा। उसकी इन्द्रिय शक्ति को, उसकी बुद्धि विद्या को, बढने की एक सीमा मे आ जाने पर, स्वयं फिर से अपने भीतर होकर ससार के भीतर भूमिष्ठ होना पडेगा। यहीं पर पुष्ट शरीर, शिक्षित मन और सबल प्रवृत्ति को लेकर वह परिवार और पडोसियो के बीच निविष्ट होती है। यही उसका अद्वितीय शरीर है, उसका वृहत् कलेवर है। उसके बाद शरीर जीर्ण और प्रवृत्ति क्षीण हो जाती है, तब वह अपनी विचित्र अभिज्ञता और अनासक्त प्रवीणता

को लेकर अपने क्षुद्र ससार से वृहत्तर समार मे जन्म ग्रहण करती है; उसकी शिक्षा, ज्ञान और बुद्धि एक ओर साधारण मनुष्यो केकाम मे लगी रहती है, दूसरी ओर वह अवमन्न प्राय मानव-जीवन के साथ नित्य जीवन का सम्बन्ध स्थापित करती रहती है। उसके बाद पृथ्वी के नाडी-बन्धन को पूर्णरूप से नष्ट करके, वह अति सहज ही मृत्यु के सामने आ खडी होती है और अनन्त लोको के भीतर जन्म ग्रहण करती है। इसी तरह वह समाज मे, समाज से निखिल मे निखिल से आध्यात्म क्षेत्र मे मानव-जन्म को अन्तिम परिणति का दान करती है।

प्राचीन सहिताकारो ने हमारी शिक्षा को हमारे गार्हस्थ्य को अनन्त के बीच उसी अन्तिम परिणाम की ओर अभिमुख करना चाहा था। समस्त जीवन को जीवन के परिणाम के अनुकूल करना चाहा था। इसीलिए हमारी शिक्षा केवल विषय-शिक्षा, केवल ग्रथ-शिक्षा नही थी; वह थी ब्रह्मचर्य। नियम सयम के अभ्यास द्वारा एक ऐसा बल प्राप्त होता था, जिससे भोग एव त्याग दोनो ही हमारे पक्ष मे स्वाभाविक हो जाते थे। समस्त जीवन ही धर्माचरण मय था। कारण, उसका लक्ष्य ब्रह्म के भीतर मुक्ति पाना था, इसीलिए वह जीवन-वहन करने की शिक्षा भी धर्म-व्रत थी। यह व्रत श्रद्धा के साथ, भक्ति के साथ, निष्ठा के साथ, अति सावधानी से व्यतीत करना होता था। मनुष्य के पक्ष मे जो एक मात्र परम सत्य है, उसी सत्य को सामने रखकर बालक अपने जीवन-पथ पर प्रवेश करने के लिए प्रस्तुत होता था।

बाहर की शक्ति के साथ भीतर की शक्ति की सामजस्य क्रिया प्राणों के लक्षण के रूप भी कही गई है। पेड-पौधो मे यह सामजस्य का कार्य यन्त्र की भाँति ही होता है। आलोक की, वायु की, खाद्य-रस की उत्तेजना की प्रतिक्रिया के द्वारा उनके प्राणो का काम चलता रहता है। हमारी देह मे भी उसी तरह होता है। जिह्वा से खाद्य-सयोग की उत्तेजना से स्वय ही रस खिच आता है, पाक यन्त्र से भी खाद्य के

सत्पर्श से सहज ही पाक-रस का उद्रेक होता है। हमारे शरीर की प्राण क्रिया बाहरी विश्व-शक्ति की सहज प्रतिक्रिया है।

परन्तु फिर हमारे मन नामक, इच्छा नामक एक अन्य पदार्थ का योग हो जाने से प्राणो के ऊपर एक और उपसर्ग बढ गया है। खाने की अन्यान्य उत्तेजनाओ के साथ खाने का एक आनन्द आ गया है। उसके कारण आहार का काम केवल हमारे लिए आवश्यकता का काम नही है, हमारी खुशी का काम बन गया है। इससे प्रकृति के कामो के साथ हमारा एक मानसिक सम्बन्ध बढ गया है। देह के साथ देह के बाहर की शक्ति का एक सामञ्जस्य प्राणो के भीतर घट रहा है। फिर उसके साथ इच्छा शक्ति का एक सामजस्य मन के भीतर घट रहा है। इससे मनुष्य के प्रकृति-यन्त्र की बहुत कठिन हो गई है। विश्व शक्ति के साथ प्राण शक्ति का स्वर बहुत दिनो से बँध चुका है, उसके लिए अधिक नही सोचना पडता, परन्तु इच्छा-शक्ति का स्वर बन्धन लेकर हम लोगो को दिन-रात झझट मे डाल रहा है। खाद्य के सम्बन्ध मे प्राण शक्ति की आवश्यकता तो शायद पूरी हो गई, परन्तु हमारी इच्छा का तकाजा समाप्त नहीं हुआ, शरीर की आवश्यकता के साधन मे उसने जो आनन्द प्राप्त किया, उसी आनन्द को वह आवश्यकता के बाहर भी ले जाने की चेष्टा करने लगा—उसने अनेक उपायो से विमुख-रसना को रस सिक्त करने और शान्त पाक यन्त्र को उत्तेजित करने लगा, इस तरह स बाहर के साथ प्राणो की और प्राणो के साथ मन की एकतानता को नष्ट करके वह अनेक अनावश्यक चेष्टा, अनावश्यक उपकरण और शाखा पल्लवयित दु ख की सृष्टि करता हुआ चल दिया। हमारे लिए जो आवश्यक है, उसका सग्रह ही यथेष्ठ दुरूह है, उसके ऊपर भूरि परि-माण मे अनावश्यक का बोझ लादकर वह आवश्यकता का आयोजन भी कष्ट कर हो उठा है। केवल यही नहीं—इच्छा जब एक बार स्व-भाव की सीमा को लाँघ जाती है, तब कही भी उसे फिर रुकने का

कारण नही रहता, तब वह 'हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते'. केवल वह 'चाहिये, चाहिये' करके घूमती फिरती है। पृथ्वी पर अपने और पराये पन्द्रह आने भर दु ख का कारण यही है। अथच इस इच्छा शक्ति को ही विश्व-शक्ति के साथ सामजस्य मे लाना ही हमारे परमानन्द का हेतु है। इसीलिए इच्छा को नष्ट करना हमारी साधना का विषय नही है, इच्छा को विश्व इच्छा के साथ एक स्वर मे बांधना ही हमारी सभी शिक्षा का चरम लक्ष्य है। आरम्भ मे ही उसे यदि न करें तो हमारे चचल म, ज्ञान लक्ष्य-भ्रष्ट ,प्रेम कलुषित एव कर्म वृक्ष परिभ्रान्त बने रहेंगे। ज्ञान, प्रेम और कर्म विश्व के साथ सहज मिलन मे मिले बिना हमारी आत्म-भरी इच्छा की समस्त कृत्रिम सृष्टि मे मरीचिका का अनुसरण करने मे नियुक्त बने रहेगे।

इसलिए हमे आयु के पहले भाग मे ब्रह्मचर्य पालन द्वारा इच्छा को उसकी यथाविहित सीमा के भीतर सहज-सन्चरण करने का अभ्यास करना होगा। इसी से हमारा विश्व प्रकृति के साथ मानस प्रकृति का स्वर बँध जायगा। उसके बाद उस स्वर मे अपने साध्यानुसार और इच्छानुसार चाहे जिस रागिनी को क्यो न बजाया जाय वह सत्य के स्वर को, मङ्गल के स्वर को, आनन्द के स्वर को आघात नही पहुँचायेगी।

इस तरह शिक्षा का समय समाप्त कर ससार-धर्म (गार्हस्थ्य) मे प्रवृत्त होना पडेगा। मनु ने कहा है—

'न तथैतानि शक्यन्ते सनियन्तुमसेवया।
विषयेषु प्रजुष्टानि यथा ज्ञानेन नित्यश।'

'विषयों की सेवा किए बिना उसी तरह का सयमन नही किया जा सकता, विषयो मे नियुक्त रहकर ज्ञान के द्वारा नित्यश: जिस तरह से किया जा सकता है।'

अर्थात् विषयो मे नियुक्त न होने पर ज्ञान पूर्णता को प्राप्त नही

करता, एवं जो संयम ज्ञान के द्वारा उपलब्ध नहीं होता, वह पूर्ण संयम नहीं है—वह जड अभ्यास या अनभिज्ञता का अन्तराल मात्र है; वह प्रकृति या मूल गत नहीं है, वह बाह्यिक है।'

संयम के साथ प्रवृत्ति का संचालन करने की शिक्षा और साधना रहने पर ही कर्म, विशेषतः मङ्गल-कर्म करना सहज और सुखसाध्य होता है। उस अवस्था में गृहस्थाश्रम जगत् के कल्याण का आधार बन जाता है। उस अवस्था मे गृहस्थाश्रम मनुष्य के मुक्ति-पथ पर अग्रसर होने मे बाधा नहीं, सहायक होता है। उस अवस्था में गृहस्थ जो कोई कर्म करे, उसे सहज ही ब्रह्म को समर्पित करके आनन्दित हो सकेंगे। घर के सभी कर्म जब मङ्गल कर्म होंगे। वे जब धर्म-धर्म हो जायेंगे। तब वह कर्मों का बन्धन मनुष्य को बांधकर एक दम जर्जरी-भूत नहीं कर सकेगा। यथा समय मे वह बन्धन अनायास ही स्खलित हो जायगा, यथा समय मे वह कर्म की एक स्वाभाविक परिसमाप्ति स्वयं ही आजायगी।

आयु के दूसरे भाग को इस तरह संसार धर्म मे नियुक्त करके शरीर का तेज जब ह्रास हो रहा हो, तब यह बात याद रखनी पडेगी कि इस क्षेत्र का काम समाप्त हो गया है, वह खबर आ पहुँची है। अन्त मे खबर पाकर नौकरी से बरखास्त अभागे व्यक्ति की भाँति स्वयं को दीन के रूप मे नहीं देखना पडेगा। मेरा सब कुछ चला गया, इसी को अनुशोचना का विषय करने से नहीं चलेगा; और अब भी बडे परिधि विशिष्ट क्षेत्र के भीतर प्रवेश करना है, यह समझ कर उस दिशा मे आशा के साथ, बल के साथ मुँह घुमना होगा। जो शरीर के जोर मे, जो इन्द्रियों की शक्ति मे, जो सभी प्रवृत्तियो के क्षेत्र मे था, वह इस बार पीछे पडा रह गया है—वहाँ पर जो कुछ फसल पैदा हुई है उसे काट कर, मसल कर, खलिहान मे पहुँचाकर इस मजदूरी को समाप्त करके चल दिया हू; अब सन्ध्या आ रही है, ऑफिस की कोठरी छोडकर

बड़ा रास्ता पकड़ना होगा। घर में पहुंचे बिना तो परम शक्ति नहीं है। जहाँ पर जो कुछ सहा है, जितना भी परिश्रम किया है वह किसके लिए ? घर के लिए ही तो ? वह घर ही भूमा है, वह घर ही आनन्द है—जिस आनन्द से हम आये हैं, जिस आनन्द में हम जायेंगे। वैसा यदि न हो तो, 'ततः किम्, ततः किम्, ततः किम्।'

इसीलिए गृहस्थाश्रम के काम समाप्त कर, सन्तान के हाथ में गृहस्थी का भार सौंप कर, इस बार बड़े रास्ते पर बाहर निकलने का समय है। इस बार बाहर की खुली हवा से छाती को भर लेना होगा, खुले आकाश के उजाले में दृष्टि को निमग्न एवम् शरीर के सभी रोम-कूपों को पुलकित करना होगा। इस बार एक ओर की पाली समाप्त हुई। प्रसव ग्रह में नाड़ी-काटी जा चुकी अब अन्य जगत् में स्वाधीन सचरण का अधिकार प्राप्त करना होगा।

शिशु गर्भ से पृथ्वी पर आजाने पर भी सम्पूर्ण स्वाधीन होने में पूर्व कुछ समय तक माता के पास-पास ही रहता है। वियुक्त होकर भी युक्त रहता है, पूर्णरूप से वियुक्त होने के लिए प्रस्तुत होता है। वानप्रस्थ आश्रम भी वैसा ही है। ससार (गृहस्थी) के गर्भ से निकलकर भी बाहरी ओर से ससार के साथ ही उस तृतीय-आश्रमधारी का सयोग रहता है। बाहरी ओर से वह ससार को अपने जीवन के सचित ज्ञान का फल दान करता है एव ससार से सहायता ग्रहण करता है। वह दान ग्रहण ससारी की भाँति एकान्तभाव से नहीं करता, युक्तभाव से करता है।

अन्त में आयु के चतुर्थभाग में ऐसा दिन आता है, जब इस बन्धन को भी तोड़कर एकाकी उसी परम एक के सम्मुखीन होना पड़ता है। मगल-कर्म के द्वारा पृथ्वी के समस्त सम्बन्धो का पूर्ण परिणित दान करके आनन्दस्वरूप के साथ चिरन्तन सम्बन्ध को प्राप्त करने के लिए प्रस्तुत होना पड़ता है। पतिव्रता स्त्री जिस तरह दिन भर परिवार के

उसके भीतर विभ्रान्त और निखिल के साथ सहज सत्य का सम्बन्ध भ्रष्ट होकर, पृथ्वी के बीच उत्पात स्वरूप बनकर नहीं उठ पाता।

मैं जानता हूं, इस जगह एक प्रश्न उठेगा कि किसी देश के सभी लोगों को क्या इसी आदर्श में ढाला जा सकता है? उसके उत्तर में मैं यह बात कहता हूँ कि जब घर में दीपक जलता है, तब क्या दीवट से आरम्भ होकर बत्ती तक दीपक का सब कुछ जलता है? जीवन-यापन के सम्बन्ध में, धर्म के सम्बन्ध में किसी देश का कोई भी आदर्श क्यों न रहे, वह सम्पूर्ण देश के मुखाग्र भाग पर ही उज्ज्वल रूप से प्रकाश पाता है। परन्तु बत्ती के धागे मात्र के जलने को ही दीपक जलना कहा जाता है। उसी तरह देश का एक अंश मात्र जिस भाव को पूर्ण रूप से आयत्त करेगा, सम्पूर्ण देश का ही वह लाभ है। वस्तुतः उस अंश मात्र को पूर्णता देने के लिए सम्पूर्ण देश को वस्तुतः होना पड़ेगा, सम्पूर्ण समाज को अनुकूल बनना पड़ेगा—डाली पर फल लगने से पहले वृक्ष की जड़ों और तने को सचेष्ट रहना होगा। भारतवर्ष में यदि ऐसा दिन आ जाय कि हमारे देश के मान्य श्रेष्ठ व्यक्ति सर्वोच्च सत्य एवं सर्वोच्च मंगल को ही अन्य सब खण्ड-प्रयोजनों के ऊपर रखकर चिर-जीवन की साधना की सामग्री बनाकर रख सकें, तो उनकी साधना और सार्थकता सम्पूर्ण देश के भीतर एक विशेष गति, एक विशेष शक्ति का संचार करेगी ही। एक दिन भारतवर्ष में ऋषिगण जब ब्रह्म-साधना में रत थे, तब समस्त आर्य-समाज के भीतर—राजकार्य में, युद्ध में, वाणिज्य में, साहित्य में, शिल्प में, धर्मार्चना में—सभी जगह उसी ब्रह्म का स्वर गूंजा था; कर्म के भीतर मोक्ष का भाव विराजित रहा था; भारतवर्ष की सम्पूर्ण समाज-स्थिति मैत्रेयी की भाँति कहती रहती थी, 'येनाहं नामृता स्यां किमहं तेन कुर्याम्।' वह वाणी चिर दिनों के लिए मौन हो गई है, ऐसी ही यदि हमारी धारणा हो, तो अपने इस मृत-समाज के लिए इतने उपकरणों को इकट्ठा करके व्यर्थ ही सेवा करके

को नहीं मिलाते हैं। हमारे जीवन के सभी ओर इसी तरह का एक ऊटपटाग, जोड-तोड का व्यापार घट रहा है। यूरोपीय सभ्यता के प्रताप और ऐश्वर्य के आयोजन ने हमारी दृष्टि को मुग्ध कर दिया है; उसके असगत और क्षीण अनुकरण के द्वारा हम अपनी आडम्बर-आस्फालन की प्रवृत्ति को खूब दौडा रहे हैं; हमारी ड्योढी के समीप उसकी बडी जय-ढाक (विजय का नगाडा) खोब पीट पीटकर खूब ही शब्द कर रहा है—परन्तु जो हमारे अन्त.पुर की खबर रखता है वह जानता है कि उस समय का मगलशख इस बाह्याडम्बर की धमक के नीचे खामोश नही हो जाता, भाडे पर लाये गये किले के बाजे एक समय जब किले के भीतर लौट जाते हैं, उस समय भी घर का यही शख अ.काश मे उत्सव की मगलध्वनि की घोषणा करता है। हम अँग्रेजो की राष्ट्रनीति, समाजनीति, वाणिज्यनीति की उपयोगिता को भली-भाँति स्वीकार और प्रचारित करते हैं, परन्तु उससे किसी तरह भी अपने सम्पूर्ण हृदय को पूर्णभाव से आकर्षित नही करते। हमने सबकी अपेक्षा जिस बडे स्वर को सुना है, वह स्वर जो उस पर आघात करता है, हमारी अन्तरात्मा एक जगह पर इसको केवलमात्र अस्वीकार करती है।

हमलोग कभी भी इस तरह के हाट के मनुष्य नही थे। आज हम हाट के भीतर बाहर निकल कर ठेलठाल और चीत्कार.कर रहे हैं—इतर हो उठे हैं, कलह मे मस्त हैं, पद और पदवी लेकर छीना झपटी कर रहे है, बडे अक्षरों और उच्च कण्ठ के विज्ञापन के द्वारा स्वय को अन्य पाच लोगों की अपेक्षा अग्रसर करके घोषणा करने की प्राणपण से चेष्टा चल रही है। अथच यह एक नकल है। इसके भीतर सत्य बहुत कम है-।

भात, मोटे कपड़े हमारे गौरव को नष्ट नहीं कर पाते थे। कर्ण ने जिस तरह अपने कवच-कुण्डलों को लेकर जन्म ग्रहण किया था, उन दिनों में हम उसी तरह एक स्वाभाविक आभिजात्य के कवच को लेकर जन्म लेते थे। इस कवच ने ही हमें बहु दिनों की अधीनता और दु.ख-दारिद्रय के बीच भी बचाये रक्खा है, हमारे सम्मान को नष्ट नहीं होने दिया है। कारण, हमारा वह सम्मान बाहर से चुराया हुआ धन नहीं था, वह हमारे हृदय की सामग्री थी। उन सहज जात कवचों को हमारे पास से किसी ने ठग कर ले लिया, इसी से हमारी आत्मरक्षा का उपाय चला गया है। अब हम विश्व के बीच लज्जित हैं। अब हमारी वेष-भूषा में आयोजन उपकरण में तनिक भी कहीं कुछ कमी पड़ते ही हम फिर मस्तक नहीं उठा पाते। सम्मान अब बाहरी वस्तु बन गई है, इसी से उपाधि के लिए, ख्याति के लिए हम बाहर की ओर दौड़ रहे हैं, बाहरी आडम्बरों को निरन्तर बढ़ाये जा रहे हैं एवं कहीं भी किसी एक छिद्र के बाहर निकलने का उपक्रम होने हो, उस मिथ्या को तालो लगा कर ढाँक देने की चेष्टा कर रहे हैं। परन्तु इसका अन्त कहाँ है? जो भद्रता हमारे हृदय की सामग्री थी, उसे आज यदि बाहर खींचकर जूते की दूकान, कपड़े की दूकान, घोड़ों की हाट एवं गाड़ियों के कारखानों में घुमाना आरम्भ करें, तो उसे कहाँ ले जाना कहा जायगा, बस, हो गया, अब विश्राम करो। हम सन्तोष को ही सुख की पूर्णता के रूप में जानते थे; कारण, सन्तोष हृदय की सामग्री है—अब उसी सुख को यदि हाट हाट, घाट घाट में ढूँढते हुए फिरना पड़े तो कब कह सकेंगे, 'सुख पा लिया है।' इस समय हमारी भद्रता को सस्ते कपड़े अपमानित करते हैं, विलायती गृह शय्या के अभाव में उपहास करते हैं, चैक बुक के अङ्कपात की न्यूनता में उसके प्रति कलङ्कपात करते हैं—ऐसी भद्रता को मजदूर की भाँति वहन करके गौरव अनुभव करना कितना लज्जाजनक है इसी को हम भूलने बैठ गये हैं। और जिस सब

परिणामहीन उत्तेजना-उन्मादना को हमने सुख के रूप में वरण कर लिया है, उसके द्वारा हमारे समान बहिर्विषय में पराधीन जाति को अन्तःकरण से भी दासानुदास बना दिया गया है।

परन्तु फिर भी कहता हूँ, इस उपसर्ग ने अभी तक हमारी मज्जा के भीतर प्रवेश नहीं किया है। अभी तक यह बाहर ही पड़ा है; एवं बाहर है इसीलिए इसका कलरव इतना अधिक है, इसीलिए इसे इतने अतिशय्य एवं अतिशयोक्ति की आवश्यकता होती है। अभी तक हमारे गम्भीरतर स्वभाव के अनुगत नहीं हुआ है, इसीलिए सन्तरण-मूढ़ के तैरने की भाँति इसे लेकर हमें इस तरह उन्मत्त की भाँति आस्फालन करना पड़ता है।

परन्तु, एक बार कोई यदि हमारे भीतर खड़ा होकर यथार्थ अधिकार के साथ यह बात कहे कि सम्पूर्ण प्रयास में, उन्मत्त प्रतियोगिता में, अनित्य ऐश्वर्य में हमारी भलाई नहीं है—जीवन का एक परिपूर्ण परिणाम है, सभी, कर्म, सभी साधनाओं की एक परिपूर्ण परिसमाप्ति है; एवं वही परिणाम वही परिसमाप्ति ही हममें से प्रत्येक की एकमात्र चरम सार्थकता है, उसके समीप और सब तुच्छ हैं—तो आज भी इस हाट-बाजार के कोलाहल के बीच भी हमारा सम्पूर्ण हृदय सहमति दे उठेगा, कहेगा, सत्य है यही सत्य है, इससे अधिक सत्य और कुछ भी नहीं है। तब, स्कूल में जो सब ईतिहास के पाठ याद किए हैं,, खींचतान, मारपीट की बातें, छोटी छोटी जातियों के क्षुद्र क्षुद्र अभिमान को ही सर्वोच्च सिंहासन पर नया-रक्त देकर अभिषेक करने की बातें, अत्यन्त क्षीण खर्व हो जायेंगी, तब लाल कुर्ती पहनने वाली अक्षौहिणी सेना का दम्भ, उद्यत-मस्तूल वृहदाकार युद्ध के जहाजों की उद्धता हमारे चित्त को और अभिभूत नहीं करेगी, हमारे मर्मस्थल में भारतवर्ष की वह युगीन एक सजल-जलदगम्भीर ॐकारध्वनि नित्य-जीवन के आदि स्वर को जगत् के सभी कोलाहल से ऊपर जगाये रखती है। इसे हम किसी

तरह भी अस्वीकार नहीं कर सकेंगे, यदि करें तो इसके बदले हम ऐसा कुछ भी नहीं पायेंगे, जिसके द्वारा हम सिर उठाकर खड़े हो सकें, जिसके द्वारा हम अपनी रक्षा कर सकें। हम केवल तलवार की छटा, वाणिज्य घटा, कल-कारखाने के लालनेत्र एवं स्वर्ग का प्रतिस्पर्धी जो ऐश्वर्य उत्तरोत्तर अपने उपकरण स्तूप को ऊँचा उठाकर आकाश की सीमा नापने का भान कर रहा है। उसकी उत्कट मूर्ति को देखकर समस्त मन-प्राण से केवल परास्त पराभूत बने रहेंगे। केवल संकुचित शङ्कित होकर पृथ्वी के राजपथ पर भिक्षा-सम्बल दीन-हीन की भाँति घूमते फिरेंगे।

अथच यह बात भी मैं किसी तरह स्वीकार नहीं करता कि हम जिसे श्रेय कहते हैं, वह केवल हमारे लिए ही श्रेय है। हमें अक्षम बनकर, धर्म को दायें में पढ़कर वरण करना होगा, उसे दारिद्रय में छिपाने को एक कौशल के रूप में ग्रहण करना होगा। यह बात कभी भी सत्य नहीं है। प्राचीन संहिताकारों ने मानव-जीवन का जो आदर्श हमारे सामने रखा है, वह केवल मात्र किसी एक विशेष जाति के विशेष अवस्था के पक्ष ही सत्य है यह बात कभी भी सच नहीं है। यही एकमात्र सत्य आदर्श है, सुतरां यही सब मनुष्यों के लिए कल्याण का हेतु है। प्रथम आयु में श्रद्धा के द्वारा, संयम के द्वारा, ब्रह्मचर्य के द्वारा प्रस्तुत होकर द्वितीय आयु में गृहस्थ-आश्रम में, मङ्गल-कर्मों में आत्मा को परिपुष्ट करना होगा। तृतीय आयु में उदारतर क्षेत्र में एक एक कर सभी बन्धनों को शिथिल करके अन्त में आनन्द के साथ मृत्यु को, मोक्ष को नामान्तर रूप में ग्रहण करना होगा—मनुष्य-जीवन के इस तरह चलने पर ही उसके आद्यन्तसंगत पूर्ण तात्पर्य को पाया जा सकता है। तभी समुद्र से जो बादल उत्पन्न होकर पर्वत की रहस्य गूढ़ गुफा में से नदी रूप में बाहर निकला है। सम्पूर्ण यात्रा की समाप्ति पर फिर उसे उसी समुद्र के भीतर पूर्णतर रूप में सम्मिलित होते हुये देख

कर तृप्ति लाभ की जायगी। बीच राह में जहाँ भी हो, उसका अकस्मात अवसान असङ्गत है, असमाप्त है। इस बात को यदि हृदय से समझ सके तो कहना होगा, इस सत्य को ही उपलब्ध करने के लिए सभी जातियों को अनेक मार्गों से अनेक आघात सहन करते हुए बारम्बार चेष्टा करनी पड़ेगी। इसके समीप विलासी के उपकरण, नेशन का प्रताप राजा का ऐश्वर्य वणिक की समृद्धि, सभी गौण हैं; मनुष्य की आत्मा को जयी बनना पड़ेगा, मनुष्य की आत्मा को मुक्त बनना पड़ेगा, तभी मनुष्य की इतने समय की सभी चेष्टाएँ सार्थक होंगी—अन्यथा, तत: किम्, तत: किम्, तत: किम्।

धर्म प्रचार

'आओ, हम फल प्राप्त करें' कहकर हठात् उत्साह पूर्वक उसी समय पथ पर बाहर निकल पड़ना ही फल प्राप्ति का उपाय है, यह कोई नहीं कहेगा। कारण केवल मात्र सदिच्छा एवं सदुत्साह के बल पर फल की सृष्टि नहीं की जा सकती। बीज से वृक्ष और वृक्ष से फल उत्पन्न होता है। दलबद्ध उत्साह के द्वारा भी इस नियम के अन्यथा नहीं हो सकता। बीज और वृक्ष के साथ सम्पर्क न रखकर हम यदि अन्य उपाय से फल प्राप्ति की आकांक्षा करें तो वह घर में गढ़ा गया कृत्रिम फल खेलने के लिए, घर को सजाने के लिए अति उत्तम हो सकता है—परन्तु यह हमारी यथार्थ क्षुधा निवृत्ति के लिए अत्यन्त अनुपयोगी होता है।

हमारे देश में आधुनिक धर्म-समाज में हम इस बात को सोचते ही नहीं हैं। हम सोचते हैं, दल बांधने से ही शायद फल मिल सकता है। अन्त में मन में सोचते हैं कि दल बांधना ही फल है।

क्षण-क्षण पर हम में उत्साह होता है, प्रचार करना होगा। हठात् अनुताप होता है, कुछ नहीं कर रहे हैं। जैसे करना ही सबसे प्रधान है—क्या करें, क्या करेंगे, यह कोई अधिक सोचने की बात नहीं है।

परन्तु यह बात सदैव स्मरण रखनी आवश्यक है कि धर्म-प्रचार कार्य में धर्म पहले है, प्रचार उसके बाद है। प्रचार करने से ही धर्म की रक्षा होगी। ऐसा नहीं है, धर्म की रक्षा करने से ही प्रचार स्वयं हो जायगा।

मनुष्यत्व के सभी महा सत्य पुरातन है एवम् 'ईश्वर हैं' यह बात पुरानतम है। इस पुरातन को मनुष्य के समीप सदैव नवीन बनाये रखना ही महापुरुषो का काम है। ससार के चिरन्तन धर्मगुरुओ ने किसी नये सत्य का आविष्कार किया हो, ऐसा नही है, उन्होने पुरातन को अपने जीवन मे नया करके प्राप्त किया है एवं ससार के भीतर उसे नया बनाकर उठाया है।

नव-नव वसन्त नव-नव पुष्पो की सृष्टि नही करता—उस प्रकार के नवीनत्व की हमे आवश्यकता नही है। हम अपने चिरकालीन पुरातन फूलो को ही प्रतिवर्ष प्रति वसन्त मे नवीन रूप मे देखना चाहते हैं। ससार मे जो कुछ महोत्तम है, जो महार्घतम है, वह पुरातन है। वह सरल है, उसके भीतर गुप्त कुछ भी नही है; जिनका अभ्युदय वसन्त की भाँति अनिर्वचनीय जीवन और यौवन के दक्षिण-समीरण को महासमुद्र के वक्ष से साथ ले आता है, वे सहसा इस पुरातन को अपूर्व बना देते हैं, अति-परिचित को अपने जीवन के नव-नव वर्ण, गन्ध, रूप मे सजीव सरस, प्रस्फुटित करके मधु पिपासुओ को दिग-दिगन्त से आकर्षित करके ले आते हैं।

हम धर्म-नीति के सर्वजनविदित सहज सत्यो एवं ईश्वर की शक्ति और करुणा की प्रत्याह पुनरावृत्ति करके सत्य को तनिक भी अग्रसर नहीं करते, वरन अभ्यस्त वाक्यों की ताडना से बोध शक्ति को जड बना देते हैं। जो सब बातें अत्यन्त परिचित हैं। उन्हे एक नियम बाँध कर बारम्बार सुनाते रहने पर, शायद हमारा मनोयोग एकदम निश्चेष्ट हो जाता है। अन्यथा हमारा हृदय विद्रोही हो उठता है।

विपत्ति केवल यही एकमात्र नही है। अनुभूति का भी एक अभ्यास है। हम विशेष स्थान पर, विशेष भाषा-विन्यास से एक प्रकार के भावावेग की मादकता की भाँति अभ्यास कर सकते हैं। उस अभ्यस्त आवेग को हम आध्यात्मिक सफलता कहकर भ्रम करते हैं, परन्तु वह

एक प्रकार का सम्मोहन मात्र है।

इसी तरह धर्म भी जब सम्प्रदाय विशेष मे बँध जाता है, तब वह सम्प्रदायस्थ अधिकाश लोगो के समीप ही, शायद अभ्यस्त जडता में या अभ्यस्त सम्मोहन मे परिणित हो जाता है। उसका प्रधान कारण है, चिर पुरातन धर्म को नवीन बनाकर विशेष भाव से अपना बनाने एव उसी सूत्र से उसे दुबारा विशेषभाव से सभी मनुष्यो के लिए उपयोगी करने की क्षमता जिनमे नही है, धर्म रक्षा और धर्मप्रचार का भार वे लोग ही ग्रहण करते हैं। वे लोग सोचत है, हमारे निश्चेष्ट बने रहने से समाज की हानि होगी।

धर्म को जो लोग पूर्ण रूपेण उपलब्ध किये बिना प्रचार करने का प्रयत्न करते हैं, वे क्रमश. धर्म को जीवन से दूर ठेलते रहते हैं। ये लोग धर्म की एक विशेष लकीर खीचकर एक विशेष सीमा के भीतर बन्द करते हैं, धर्म विशेष दिन का, विशेष स्थान का, विशेष प्रणाली का धर्म बन जाता है। उसम कही भी कुछ व्यत्यय होते ही सम्प्रदाय के भीतर हलचल मच जाती है। जमीदार अपनी जमीन की सीमा को इतनी सतर्कता से बचाने की चेष्टा नही करता, धर्म व्यवसायी जिस तरह के प्रचण्ड उत्साह के साथ धर्म की स्वरचित रेखा की रक्षा करने के लिए सग्राम करते रहते हैं। इस रेखा की रक्षा को ही वे लोग धर्म-रक्षा करना समझते हैं। विज्ञान के किसी नये मूलतत्व के आविष्कृत होने, वे पहले यही देखते हैं कि वह तत्व उनकी रेखा की सीमा मे हस्तक्षेप करता है या नही, यदि करता है तो 'धर्म गया' कहकर वे भयभीत हो उठते है। धर्म के डठल को वे इतना पतला किये रखते है कि प्रत्येक वायु-हिल्लोल को ये शत्रुपक्ष के रूप मे देखते हैं। धर्म को ससार से बहुत दूरी पर स्थापित करते हैं—पीछे धर्म की सीमा के बीच मनुष्य अपना हास्य, अपना क्रन्दन, अपने प्रत्याहिक व्यापार को अपने जीवन के अधिकाश को लेकर उपस्थित होता है। सप्ताह के एक

दिन के एक अंश को, घर के एक कोने को अथवा नगर के एक मन्दिर को धर्म के लिए उत्सर्ग किया जाता है—अन्य सब देश काल के साथ इसका एक पार्थक्य, यही क्यों, एक विरोध क्रमशः सुपरिस्फुट हो उठता है। देह के साथ आत्मा का, संसार के साथ ब्रह्म का, एक सम्प्रदाय के साथ अन्य सम्प्रदाय का वैपम्य और विद्रोह भाव स्थापित करना ही, मनुष्यत्व के बीच गृह विच्छेद उपस्थित करना ही जैसे धर्म का विशेष लक्ष्य बनकर खड़ा हो जाता है।

अथच, संसार में एकमात्र जो सभी वैपम्य के बीच के ऐक्य, समस्त विरोधों के बीच शान्ति का आनयन करता है, समस्त विच्छेदों के बीच जो एकमात्र मिलन का सेतु है, उसी को धर्म कहा जाता है। वह मनुष्यत्व के एक अंश में अवस्थित होकर दूसरे अंश के साथ दिन-रात कलह नहीं करता—सम्पूर्ण मनुष्यत्व उसके अन्तर्भूत है—वहाँ यथार्थभाव से मनुष्यत्व के छोटे-बड़े, भीतरी-बाहरी सर्वांश में पूर्ण सामञ्जस्य है। उसी सुवृहत् सामञ्जस्य से विच्छिन्न होकर मनुष्यत्व सत्य से स्खलित हो जाता है, सौन्दर्य से भ्रष्ट होकर गिर जाता है। उस अमोघ धर्म के आदर्श को यदि गिर्जा की रेखा के भीतर निर्वासित करके अन्य किसी उपस्थित प्रयोजन के आदर्श द्वारा संसार के व्यवहार को चलाया जाय, तो उससे सर्वनाशी अमङ्गल की सृष्टि होती रहेगी।

परन्तु भारतवर्ष का यह आदर्श सनातन नहीं है। हमारा धर्म 'रिलीजन' नहीं है, वह मनुष्यत्व का एकांश नहीं है—वह पॉलिटिक्स से तिरस्कृत, युद्ध से बहिष्कृत, व्यवसाय से निर्वासित, प्रत्याहिक व्यवहार से दूरवर्ती नहीं है। समाज के किसी भी विशेष अंश में उसे प्राचीरबद्ध करके मनुष्य के आराम अमोद से, काव्य कला से, ज्ञान विज्ञान से उस की सीमा की रक्षा करने के लिए सदैव पहरा खड़ा नहीं किया जा सकता। ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ, वानप्रस्थ आदि आश्रम इसी धर्म को जीवन के भीतर, संसार के भीतर सर्वतोभाव से सार्थक करने के सोपान हैं। धर्म

संसार के अतिम प्रयोजन-साधन के लिए नहीं है, समग्र संसार ही धर्म-साधन के लिए है। इस तरह धर्म ने घर के भीतर गृहधर्म, राजत्व के भीतर राजधर्म होकर भारतवर्ष के सम्पूर्ण समाज को एक अखण्ड तात्पर्य का दान दिया था। इसीलिए भारतवर्ष में जो अधर्म है, वही अनुपयोगी था; धर्म के द्वारा ही सफलता का विचार किया जाता था, अन्य सफलताओं के द्वारा धर्म का विचार नहीं चलता था।

इसीलिए भारतवर्षीय आर्य-समाज में शिक्षा के समय को 'ब्रह्मचर्य' का नाम दिया गया था। भारतवर्ष जानता था, ब्रह्म-लाभ के द्वारा मनुष्यत्व-लाभ करना ही शिक्षा है। उस शिक्षा के अतिरिक्त गृहस्थ-तनय गृही, राजपुत्र राजा नहीं हो सकता था। कारण, गृह-कर्म के भीतर से ही ब्रह्म-लाभ, राज कर्म के भीतर से ही ब्रह्मप्राप्ति भारतवर्ष का लक्ष्य था।

जो जिसे यथार्थभाव से चाहता है, वह उसके उपाय का उसी तरह यथार्थ भाव से अवलम्बन करता है। यूरोप जिसकी कामना करता है, बाल्यकाल से उसका पथ उसे प्रस्तुत करता है, उसके समाज में वही लक्ष्य जान में और अनजान में उसे पकड़े रखता है। इसी कारण यूरोप देशों को जीतता है, ऐश्वर्य प्राप्त करता है, प्राकृतिक शक्ति को अपने सेवा कार्य में नियुक्त करके स्वयं को परम चरितार्थ समझता है। उसके उद्देश्य और उपायों के बीच सम्पूर्ण सामञ्जस्य है, इसीलिए वह सिद्ध काम हुआ है। इसीलिए यूरोप के लोग कहते हैं, अपने पब्लिक स्कूल में, अपने क्रिकेट के क्षेत्र में, वे युद्ध में विजय की चर्चा करके लक्ष्य सिद्धि के लिए प्रस्तुत होते रहते हैं।

किसी समय में हमने उसी तरह के यथार्थभाव से ब्रह्मलाभ को जब चरम लाभ के रूप में समझा था, तब समाज में सर्वत्र ही उसका यथार्थ उपाय अवलम्बित हुआ था। उस समय यूरोपीय रिलीजन-चर्चा के आदर्श को हमारे देश ने कभी भी धर्म-लाभ के आदर्श के रूप

मे ग्रहण नही कर पाया था । सुतरा धर्म-पालन उस समय सकुचित होकर विशेषभाव से रविवार अथवा अन्य किसी वार (दिन) की सामग्री नही बन सका । ब्रह्मचर्य उसकी शिक्षा थी, गृहस्थाश्रम उसकी साधना थी, समस्त समाज उसके अनुकूल था एव जिन ऋषियो ने लब्ध काम होकर कहा था,

'वेदाहमेतं पुरुष महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्:—'

जिन्होने कहा था,

'आनद ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चन—'

वे ही उसके गुरू थे ।

धर्म को यदि हम लोग शौकीनी का धर्म बनादें; हमलोग यदि सोचें कि अजस्र भोग-विलास के एक पार्श्व मे धर्म को भी थोडा सा स्थान देना आवश्यक है, अन्यथा भव्यता की रक्षा नही होगी, अन्यथा घर के स्त्री बच्चो के जीवन मे जितना धर्म का सस्रव रखना शोभन है, उसे रखने का उपाय नही रहेगा; हम यदि सोचें कि हमारे आदर्शभूत पाश्चात्य-समाज मे भद्र-परिवार के लोग धर्म को जितने परिमाण मे स्वीकार करके भद्रता की रक्षा को अङ्ग के रूप मे मानते हैं, हमे भी सभी विषयो मे उन्ही का अनुवर्तन करके उसी अगत्य परिमाण के धर्म की व्यवस्था न रखने से लज्जित होना पडेगा; तो अपने उस भद्रता-विलास के साज-सामान के साथ अपने पितामहो की पवित्रमय साधना को चटुलतम परिहास मे परिणित कर देना होगा ।

जिन्होने ब्रह्म को सर्वत्र उपलब्ध किया था, उन ऋषियो ने क्या कहा है ? उन्होने कहा है,

'ईशा वास्यमिद सर्वं यत्किञ्च जगत्या जगत् ।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम् ॥'

'विश्व-जगत् मे जो कुछ चल रहा है, सभी को ईश्वर के द्वारा आवृत्त देखना होगा—एव उन्होने जो दान किया है उसी का भोग

करना होगा, पराये धन पर लोभ नहीं करना होगा।'

इसका अर्थ यह नहीं है कि ईश्वर सर्वव्यापी है, इस बात को स्वीकार करके उसके बाद संसार में जैसी इच्छा हो, वैसा ही किया जाय। यथार्थभाव से ईश्वर के द्वारा समस्त को आच्छन्न करके देखने का अर्थ अत्यन्त बड़ा है—उस तरह से न देखने पर संसार को सच्चे रूप में देखना नहीं होता एवं जीवन को अन्ध बना कर रखना होगा।

'ईशावास्यमिदं सर्वम्—' यह काम की बात है; यह कुछ भी काल्पनिक नहीं है, यह केवल सुनकर जानने और उच्चारण द्वारा मान लेने का मन्त्र नहीं है। गुरु के निकट इस मन्त्र को ग्रहण करके उसके बाद दिन दिन पग-पग पर इसे जीवन के भीतर सफल करना होगा। संसार को क्रम क्रम से ईश्वर के भीतर व्याप्त करके देखना होगा। पिता को उसी पिता के भीतर, माता को उसी माता के भीतर, मित्र को उसी मित्र के भीतर, पड़ोसी, स्वदेशी और मनुष्य-समाज को उसी सर्वभूतान्त रात्मा के भीतर उपलब्ध करना होगा।

ऋषियों ने जो ब्रह्म को कितने ही सत्य के रूप में देखा था। उसे उनकी एक ही बात से समझा जा सकता है। उन्होंने कहा है—

'तेषामेवैष ब्रह्मलोको येषां तपो ब्रह्मचर्यं येषु सत्यं प्रतिष्ठितम्।'

'यह जो ब्रह्मलोक है, अर्थात् जो ब्रह्मलोक सर्वत्र विद्यमान है, यह उन्हीं का है, जिनके भीतर तपस्या, जिनके भीतर ब्रह्मचर्य, जिनके भीतर सत्य प्रतिष्ठित है।'

अर्थात् जो लोग यथार्थभाव से इच्छा करते हैं, यथार्थभाव से चेष्टा करते हैं, यथार्थ उपाय का अवलम्बन करते हैं। तपस्या कोई कौशल-विशेष नहीं है, वह कोई गुप्त रहस्य नहीं है—

'ऋतं तपः सत्यं तपः श्रुतं तपः शान्तं तपो दानं,

तपो यज्ञस्तपो भूर्भुवः सुवर्ब्रह्मैतदुपास्यैतत् तपः।'

'ऋत ही तपस्या है, सत्य ही तपस्या है, श्रुत तपस्या है, इन्द्रिय-

निग्रह तपस्या है, दान तपस्या है, कर्म तपस्या है एवं भूर्लोक-भुवर्लोक-स्वर्लोकव्यापी यह जो ब्रह्म है, इनकी उपासना ही तपस्या है।'

अर्थात् ब्रह्मचर्य के द्वारा बल, तेज, शान्ति, सन्तोष, निष्ठा और पवित्रता प्राप्त करके, दान और कर्म द्वारा स्वार्थ-पाश से मुक्ति प्राप्त करके, फिर भीतर बाहर आत्मा में, दूसरों में लोक-लोकान्तर में ब्रह्म को प्राप्त किया जाय।

उपनिषद् कहते हैं, जिन्होंने ब्रह्म को जाना है, वे 'सर्वमेवा विशेष' हैं, सबके भीतर प्रवेश करते हैं। विश्व से हम जिस परिमाण में विमुख होंगे, ब्रह्म से भी हम उसी परिमाण में विमुख होते रहेंगे। हमने धैर्य प्राप्त कर लिया है या नहीं, अभय प्राप्त कर लिया है या नहीं, क्षमा हमारे लिए सहज हो गई है या नहीं, आत्म विस्मृत मङ्गलभाव हमारे लिए स्वाभाविक हो गया है या नहीं, पर-निन्दा हमारे लिए अप्रिय और दूसरे के प्रति ईर्ष्या का उद्रेक हमारे लिये परम लज्जा का विषय हो गया है या नहीं, वैषयिकता का बन्धन, ऐश्वर्य-आडम्बर का प्रलोभन-पाश क्रमशः शिथिल हो रहा है या नहीं, एवं सर्वापेक्षा जिसे वश में करना दुरूह है, वही उद्यत आत्माभिमान वशीरव-विमुग्ध भुजंगम की भाँति क्रम-क्रम से अपने मस्तक को नत कर रहा है या नहीं। इसी का पीछा करने पर हम यथार्थ भाव में देखेंगे कि ब्रह्म के भीतर हम कितनी दूर तक अग्रसर हो पाये हैं, ब्रह्म के द्वारा निखिल जगत् को कितनी दूर तक सत्य रूप में आवृत्त देख सके हैं।

है। निखिल मानवात्मा के बीच हम उसी परमात्मा को निकटतम, अन्तरतम रूप मे जानकर उन्हे वारम्बार नमस्कार करें। सर्व-भूतान्तरात्मा ब्रह्म ने इस मनुष्यत्व की गोद मे ही हम लोगो को माता की तरह धारण किया है, इस विश्व-मानव के स्तन्य-रस-प्रवाह मे ब्रह्म हमारी ओर चिरकाल-सचित प्राण, बुद्धि, प्रीति और उद्यम मे निरन्तर परिपूर्ण किये रखते हैं, इसी विश्वमानव के कण्ठ से ब्रह्म हमारे मुख से परमाश्चर्य भाषा का सचार कर देते हैं, इसी विश्व-मानव के अन्त:पुर मे हम लोग चिरकाल रचित काव्य-कहानी सुन रहे हैं, इसी विश्व-मानव के राज-भाण्डार मे हमारे लिए ज्ञान और धर्म प्रतिदिन पुंजीभूत होता रहता है। इसी मानवात्मा के बीच उस विश्वात्मा को प्रत्यक्ष करके हमारी परितृप्ति घनिष्ठ होती है—कारण मानव-समाज के उत्तरोत्तर विकासमान अपरूप रहस्यमय इतिहास के बीच ब्रह्म के आविर्भाव को केवल जानना मात्र ही हमारे पक्ष मे यथेष्ट आनन्द नही हैं, मानव के विचित्र प्रीति-सम्बन्धो के बीच ब्रह्म का प्रीतिरस निश्चित भाव से अनुभव कर पाना हमारी अनुभूति की चरम सार्थकता एव प्रीति वृत्ति का स्वाभाविक परिणाम जो कर्म है, उसी कर्म द्वारा मानव की सेवा के रूप मे ब्रह्म की सेवा करके हमारी कर्मपरता का परम साफल्य है। अपनी बुद्धि वृत्ति, कर्म वृत्ति, अपनी सम्पूर्ण शक्ति का समग्र भाव से प्रयोग करने पर ही हमारे अधिकार हमारे पक्ष मे यथासम्भव सम्पूर्ण होते हैं। इसीलिए ब्रह्म के अधिकार को बुद्धि, प्रीति और कर्म के द्वारा हमारे पक्ष मे सम्पूर्ण करने का क्षेत्र मनुष्यत्व के अतिरिक्त और कहीं नही है। माता जिस तरह एकमात्र मातृ सम्बन्ध से ही शिशु के पक्ष मे सर्वापेक्षा निकट है, सर्वापेक्षा प्रत्यक्ष है, ससार के साथ उसके अन्यान्य विचित्र सम्बन्ध शिशु के निकट अगोचर एव अव्यवहार्य हैं, उसीतरह ब्रह्म मनुष्य के निकट एकमात्र मनुष्यत्व के भीतर ही सर्वापेक्षा सत्यरूप मे प्रत्यक्षरूप मे विराजमान है—इस सम्बन्ध के भीतर से ही हम उन्हे जानते हैं, उन

से स्नेह करते हैं, उनके लिए कर्म करते हैं। इसीलिए मानव ससार के भीतर ही, प्रतिदिन के छोटे-बड़े सभी कर्मों के भीतर ही, ब्रह्म की उपासना मनुष्य के पक्ष मे एकमात्र सच्ची उपासना है। अन्य उपासना आंशिक है—केवल ज्ञान की उपासना, केवल भाव की उपासना है—उस उस उपासना के द्वारा हम क्षण-क्षण पर ब्रह्म का स्पर्श कर सकते हैं। परन्तु ब्रह्म का लाभ नही कर सकते।

यह बात सभी जानते हैं, अनेक समय मनुष्य जिसे उपाय रूप मे आश्रय बनाता है, उसी को उद्देश्य रूप में वरण कर लेता है, जिसे राज्य-प्राप्ति मे सहायक मात्र कहकर पुकारता है, वही राजसिंहासन पर अधिकार कर बैठता है। हमारे धर्म समाज की रचना मे भी वही विपत्ति है। हम धर्म-लाभ के लिए धर्म समाज की स्थापना करते हैं, अन्त मे धर्म-समाज ही धर्म का स्थान ग्रहण कर लेता है। हमारी स्वयं की चेष्टा से रचित सामग्री हमारी सम्पूर्ण ममता को क्रमश इस तरह से अन्त तक आकर्षित कर लेती है कि धर्म, जो हमारा स्वरचित नहीं है, वह इसके पीछे जा पड़ता है। उस समय, हमारे समाज के बाहर अन्यत्र कहीं भी धर्म का स्थान रह सकता है, इस बात को स्वीकार करने मे कष्ट का अनुभव होता है। ऐसा होने मे धर्म की वैषयिकता आ पड़ती है। देशलुब्धगण जिस भाव से देशो को जीतने के लिए बाहर निकलते हैं, हम लोग उसी भाव से धर्म समाज की ध्वजा लेकर बाहर निकल पड़ते हैं। अन्यान्य दलो के साथ तुलना करके अपने दल के लोक-बल, अर्थ-बल, अपने दल के मन्दिरो की सख्या की गणना करते रहते हैं। मङ्गल कर्म मे मङ्गल साधन के आनन्द की अपेक्षा मङ्गल-साधन की प्रतिद्वन्द्विता बड़ी हो उठती है। दला दली की अग्नि किसी तरह भी नही बुझती, केवल बढती ही रहती है। हमारा आज का प्रधान कर्तव्य यही है कि धर्म को हम लोग धर्म-समाज के हाथो पीडित न होने दें। ब्रह्म धन्य हैं—वे सब देशो मे, सब समयों मे, सब जीवो मे

धन्य हैं—वे किसी दल के नहीं हैं, किसी समाज के नहीं हैं, किसी विशेष धर्मप्रणाली के नहीं हैं, उन्हें लेकर धर्म को विषय कर्म में फँसा बैठना नहीं चल सकता। ब्रह्मचारी शिष्य ने जिज्ञासा की थी, 'स भगव: कस्मिन् प्रतिष्ठित इति।' 'हे भगवन्, वे कहाँ प्रतिष्ठित हैं?' ब्रह्मवादी गुरु ने उत्तर दिया, 'स्वे महिम्नि।' 'अपनी ही महिमा में।' उनकी उसी महिमा के भीतर ही उनकी प्रतिष्ठा अनुभव करनी होगी अपनी निजी रचना के भीतर नहीं।

आनन्दरूप

'सत्यं ज्ञानमनन्तम् ।' वे सत्य हैं, वे ज्ञान हैं, वे अनन्त हैं। इसी अनन्त सत्य में, अनन्त ज्ञान में वे स्वयं में स्वयं ही विराजित हैं। उस जगह हम उन्हें कहाँ पायेंगे ? उस जगह से वाक्य-मन निवृत्त जो हो आया है।

परन्तु, उपनिषद् में यह बात भी कही गई है कि यह 'सत्यं ज्ञानमनन्तम्' हमारे निकट प्रकाशित हो रहे हैं। वे अगोचर नहीं हैं। परन्तु, वे कहाँ प्रकाश पा रहे हैं ?-कहाँ पर ?

'आनन्दरूपममृतं यद्विभाति।' उनका आनन्द रूप, अमृतरूप हमारे समीप प्रकाशित हो रहा है। वे जो आनन्दित हैं, वे जो रसस्वरूप हैं, वही हमारे समीप प्रकाशमान है।

कहाँ प्रकाशमान है, यह प्रश्न क्या पूछना पड़ेगा ? जो अप्रकाशित है, उसी के सम्बन्ध में प्रश्न चल सकता है, परन्तु जो प्रकाशित है, उसे 'कहाँ' कहकर कौन ढूंढता फिरेगा ?

प्रकाश कहाँ है ? यह जो चारों ओर जिसे देख रहे हैं, वही तो प्रकाश है। यह जो सामने, यह जो पार्श्व में, यह जो नीचे, यह जो ऊपर हैं—यही जो तनिक भी गुप्त नहीं है। यह जो सम्पूर्ण रूप से सुस्पष्ट है। यह जो हमारे इन्द्रिय मन पर दिन-रात्रि अधिकार किए हुए हैं।

'स एवाधस्तात् स उपरिष्टात्
स पश्चात् स पुरस्तात् स दक्षिणतः स उत्तरतः।'

यही तो प्रकाश है, इसके अतिरिक्त और प्रकाश कहाँ है ?

यही जो जिसे हम प्रकाश कहते हैं, यह किस तरह से हुआ ? उनकी इच्छा से, उनके आनन्द से, उनके अमृत से। और तो कोई कारण रह ही नहीं सकता। वे आनन्दित हैं, सम्पूर्ण प्रकाश इसी बात को कह रहा है। जो कुछ है, यह सभी उन्हीं का आनन्द रूप है, उन्हीं का अमृत रूप है; सुतरा इसका कुछ भी अप्रकाश नही हो सकता। उनके आनन्द को कौन आच्छन्न करेगा ? ऐसा महा अन्धकार कहाँ है ? इसके कणमात्र को भी नष्ट कर सके, ऐसी शक्ति किस मे है ? ऐसी मृत्यु कहाँ है। यह अमृत जो है।

'सत्य ज्ञानमनन्तम्।' वे वाक्य से, मन से अतीत हैं। परन्तु अतीत होकर कौन रहा है ? इन दसो दिशाओ मे जो आनन्द रूप मे स्वय को एक दम दान करके फैलाए हुए हैं। वे तो छिपे हुए नही है। जिस जगह आनन्द मे अमृत मे वे अजस्र रूप से पकड मे आते हैं, उस जगह प्राचुर्य का अन्त कहाँ है, उस जगह वैचित्र्य की सीमा नही है। उस जगह कैसा ऐश्वर्य है ! कैसा सौन्दर्य है ! उस जगह जहाँ आकाश शतधा विदीर्ण होकर आलोक-आलोक मे, नक्षत्र-नक्षत्र मे खचित हो उठा है, उस जगह जहाँ रूप केवल नया-नया है, उस जगह जहाँ प्राणो का प्रवाह समाप्त नही हो पाता। वे जो आनन्द रूप मे स्वय को सदैव ही दान करने बैठे हैं—लोक-लोकान्तर मे उस दान को फिर धारण नही कर पाते युग-युगान्तर मे उनका अन्त फिर दिखाई नहीं देता। कौन कहता है, उन्हे देखा नही जा सकता। कौन कहता है, वे कानो से अतीत हैं। कौन कहता है, वे पकड मे नही आते। वे ही जो प्रकाशमान हैं; आनन्दरूपममृत यद्विभाति सहस्र आँखें रहने पर भी जिन्हे देखकर समाप्त नही किया जा सकता, सहस्र कानो के रहते हुए भी उन्हे सुनना कब पूरा होता है। यदि पकडना ही चाहो तो बाहुओ का कितनी दूर तक विस्तार करने पर उन्हें पकडने का अन्त होगा। यही तो आश्चर्य

है। मनुष्य जन्म लेकर इस नीले आकाश के भीतर किस पर आँखें डाली हैं। यह क्या दिखाई दिया है। दोनों कान लगा कर भी अनन्त रहस्य *लीला-मय-स्वर की धार रात-दिन पीते रहने पर भी समाप्त नहीं* हुई। सम्पूर्ण शरीर जिस आलोक के स्पर्श से, वायु के स्पर्श से, स्नेह के स्पर्श से, प्रेम के स्पर्श से, कल्याण के स्पर्श से विद्युत्-तन्त्रीखचित अलौकिक वीणा की भाँति वारम्बार स्वदित-झकृत हो उठता है। धन्य हो गये, हम धन्य हो गये। इस प्रकाश के भीतर प्रकाशित होकर धन्य हो गये। परिपूर्ण आनन्द के इस आश्चर्यमय अपरिमेय प्राचुर्य के बीच, वैचित्र्य के बीच, ऐश्वर्य के बीच हम धन्य हो गये। पृथ्वी की धूलि के साथ, तृण के साथ, कीट-पतङ्ग के साथ, गृह-तारा-सूर्य-चन्द्र के साथ हम धन्य हो गये।

धूलि को आज धूलि कह कर अवज्ञायत करो, तृण को आज तृण मत समझना। अपनी इच्छा से इस धूलि को तुम पृथ्वी से हटा नही सकते, यह धूलि उन्ही की इच्छा है, अपनी इच्छा से इस तृण को अपमानित नही कर सकोगे, यह श्यामल तृण उन्हीं का मूर्तिमान आनन्द है। उनका आनन्द-प्रवाह ने आलोक मे उच्छ्वसित होकर आज बहुलक्ष क्रोश दूर से नव-जागरण के दूत के रूप मे तुम्हारी सुप्ति के भीतर प्रवेश किया है; इसे भक्ति के साथ अन्तःकरण मे ग्रहण *करो इसके स्पर्श के योग से स्वय को समस्त आकाश मे व्याप्त* करदो।

आज प्रभात के इसी क्षण मे पृथ्वी के आधे भूखण्ड पर नव जाग्रत्-ससार मे कर्म की कैसी तरङ्गें जग उठी हैं। इस सब प्रबल प्रयास, इस सब विपुल उद्योग मे जितने ढेर के ढेर सुख दुख, सम्पद्-विपद् गाँव-गाँव मे, नगर-नगर मे, दूर-दूरान्तर मे हिल्लोलित-फेनायित हो उठे हैं, वे सभी केवल उनकी इच्छा हैं, उनका आनन्द हैं, यहीं जानकर पृथ्वी के समस्त लोकालय के कर्म-कलरव के सङ्गीत को एकबार स्तब्ध होकर

आध्यात्मकानो से श्रवण करो। उसके बाद समस्त अन्तःकरण से कहो, सुख मे, दुःख मे उन्ही का आनन्द है, लाभ मे, हानि मे उन्ही का आनन्द है, जन्म मे, मरण मे उन्ही का आनन्द है—उसी 'आनन्द ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चन,' ब्रह्म के आनन्द को जिन्होने जान लिया है, वे किसी से भी भयभीत नही होते।

क्षुद्र स्वार्थ को भुला कर, क्षुद्र अहनिशा को दूर करके, अपने स्वय के अन्तःकरण को एकबार आनन्द मे भर डालो। तभी 'आनन्द रूप-ममृत यद्विभाति,' आनन्दरूप मे, अमृत रूप मे जो चारो ओर प्रकाश पा रहे हैं, उन आनन्दमय की उपासना सम्पूर्ण होगी। कोई भय, कोई सशय, कोई दीनता मन के भीतर मत रखो, आनन्द मे, प्रभात मे जाग्रत् होओ, आनन्द मे दिन के काम करो, दिवावसान पर निःशब्द स्निग्ध अधकार के बीच आनन्द मे आत्म समर्पण कर दो, *कहीं भी जाना नहीं होगा, कही भी ढूँढना नही होगा—सर्वत्र ही* जिन आनन्दरूप मे वे विराज रहे हैं, उसी आनन्दरूप के भीतर तुम आनन्द लाभ करने की शिक्षा लो, जो कुछ तुम्हारे सामने उपस्थित है, पूर्ण आनन्द के साथ उसे स्वीकार कर लेने की साधना करो—

'सम्पदे सकटे थाको कल्याणे,
थाको आनन्दे निन्दा अपमाने।
सबारे क्षमा करि थाको आनन्दे,
चिर-अमृतनिर्झरे शान्तिरसपाने।'

अपने इन क्षुद्र नेत्रो की दीप्ति को यदि हम नष्ट कर डालें तो *आकाश भरे प्रकाश को फिर नही देख सकेंगे, उसी तरह हमारे छोटे मन के छोटे छोटे विषाद, अवसाद, वैराग्य, निरानन्द हमे अन्धा बना* देते हैं—'आनन्दरूपममृत' को हम फिर नही देख पाते—अपनी कालिमा द्वारा हम एक दम परिवेष्टित बने रहते हैं, चारों ओर केवल टूट फूट,

केवल असम्पूर्णता, केवल अभाव देखते है, अन्धा जिस प्रकार सायाह्न के प्रकाश को काला देखता है, हमारी भी वही दशा हो जाती है। एक बार आँख यदि खुल जाय, यदि दृष्टि मिल जाय, हृदय के भीतर पल-भर के लिए भी यदि वह आनन्द सप्तक-सप्तक मे बज उठे, जिस आनन्द मे जगद्व्यापी आनन्द के सभी स्वर मिल जाँय, तब जहाँ भी दृष्टि पड़ेगी, वही उन्ही को देखेंगे—'आनन्दरूपममृत यद्विभाति।' तब क्षण भर मे ही समझ लेंगे कि सभी प्रकाश उन्ही के प्रकाश हैं एव सभी प्रकाश 'आनन्दरूपममृतम्' है। तब समझ लेंगे कि जिस आनन्द से आकाश-आकाश मे आलोक उद्भासित है, हम मे भी उसी आनन्द का परिपूर्ण प्रकाश है; उसी आनन्द से मैं किसी की अपेक्षा तनिक भी न्यून नही हूँ, मैं सभी के समान हूँ, मैं जगत् के साथ एक हूँ। उसी आनन्द से मुझे भय नही है, क्षति नही है, असम्मान नही है। मैं हूँ, कारण मुझमे परिपूर्ण आनन्द है—कौन उसका कणमात्र भी अस्वीकार कर सकेगा? ऐसी क्या घटना घट सकती है जिससे उसमे लेशमात्र क्षुण्णता होगी? इसीलिए आज आनन्द के दिन मे, आज उत्सव के प्रभात मे, हम जैसे सम्पूर्ण हृदय के साथ कह सकते हैं—

'एषास्य परमा गतिः एषास्य परमा सम्पत्।
एषोऽस्य परमो लोक एषोऽस्य परम आनन्दः।'

एवं प्रार्थना करता हूँ कि उसी आनन्द का एक ऐसा अंश प्राप्त कर सकूँ, जिससे समस्त जीवन के प्रत्येक दिन मे सर्वत्र उन्हीं को स्वीकार करूँ—भय को नहीं, द्विधा को नही, शोक को नहीं, उन्ही को स्वीकार करूँ 'आनन्दरूपममृत यद्विभाति।' वे प्रचुररूप मे स्वयं को दान कर रहे हैं, हम प्रचुर रूप मे ग्रहण क्यों नही कर सकेंगे? वे प्रचुर ऐश्वर्य से इस दिग-दिगन्त को पूर्ण किये हुए हैं—हम संकुचित होकर, दीन होकर, अति क्षुद्र आकांक्षा को लेकर, उस अवारित ऐश्वर्य के अधिकार से स्वयं को वञ्चित क्यों करेंगे? हाथ बढ़ाओ। छाती को

विस्तृत करदो। दोनो हाथ भर कर, आँखें भर कर, प्राण भर कर अबाध आनन्द मे सब कुछ ग्रहण करो। उनकी प्रसन्न दृष्टि सब जगह से तुम्हे देख रही है, अपनी दोनो आँखो को सम्पूर्ण जडता, सम्पूर्ण विषाद पोछ डालो अपनी दोनों आंखो को प्रसन्न करके टकटकी लगा कर देखो; तभी देखोगे, उन्ही का प्रसन्न सुन्दर कल्याण मुख तुम्हारी अनन्तकाल से रक्षा कर रहा है। वह कैसा प्रकाश है, वह कैसा सौन्दर्य है, वह कैसा प्रेम है, वह कैसा 'आनन्दरूपममृतम्' है। जहाँ पर दान की लेशमात्र कृपणता नही है, उस जगह ग्रहण मे ऐसी कृपणता क्यो है ? ओरे मूढ, ओरे अविश्वासी, अपने सामने ही उस आनन्द-मुख को ओर देखकर समस्त प्राण मन को प्रसारित करके फैला दे, बलपूर्वक कह, 'अल्प नही, मुझे सभी चाहिए। 'भूमैव सुख नाल्पे सुख मस्ति।' तुम जितना दे रहे हो, मैं उस सबको लूंगा। मैं छोटे के लिए बडे को याद नहीं दूंगा, मैं एक के लिए दूसरे से वञ्चित नही होऊँगा, मैं ऐसे सहज धन को लूंगा जो दसो दिशाओ मे छिपा हुआ है, जिसके अर्जन मे आनन्द है, रक्षण मे आनन्द है जिसका विनाश नही है, जिसके लिए ससार मे किसी के भी साथ विरोध नही करना पडता। तुम्हारा जो प्रेम अनेक देशो मे, अनेक कालो मे, अनेक रसो मे, अनेक घटनाओ मे अविश्राम आनन्द मे अमृत मे विकसित है, कहीं भी जिसके प्रकाश का अन्त नही है। उसी को एकान्तभाव से उपलब्ध कर सकूँ—ऐसा प्रेम तुम्हारे प्रसाद से मेरे हृदय मे अकुरित हो उठे।

जिस जगह सब कुछ दिया जा रहा है, वहाँ केवल पाने की क्षमता को खोकर जैसे भिखारी की भाँति न घूमता फिरूँ। जिस जगह 'आनन्दरूपममृत' तुम स्वय को प्रकाशित कर रहे हो, उस जगह चिर-जीवन तक मुझे ऐसी विभ्रान्ति न हो कि सदैव ही, सर्वत्र ही तुम्हें देख कर भी न देखूँ एव केवल शोक दु:ख, श्रान्ति-जरा, विच्छेद-क्षति को लेकर हाहाकार करते-करते ससार से चला जाऊँ।

ॐ शान्ति: शान्ति: शान्ति.।